स्वप्न-भंग

Homewati

होमवती

Swapun Bangh

Stories

१९४८ 1954

मुद्रक-प्रकाशक—
मदन मोहन बी. ए.,
निष्काम प्रेस, मेरठ ।

समर्पण

जीवन के मृदुलतम क्षणों को जिन्होंने निरन्तर
संघर्ष की ज्वालाओं में तपाया, यह
संग्रह अपने उन्हीं भाई
रघुकुल तिलक को
सस्नेह।

—होमवती

Homvati

क्रम

मेरी बात

मैंने कभी कहानी लिखने के लिए ही कहानी लिखी हो, यह बात ध्यान में नहीं आती। हाँ, जब जैसा भला या बुरा अनुभव हुआ तभी जैसे कुछ लिख डालने के लिए बाध्य सी हो गई। यह दोष है या गुण— यह मैं नहीं जानती। प्रस्तुत-संग्रह की कहानियाँ भी इसी प्रकार लिखी गई हैं जैसे कि पहली और पुस्तकें। परन्तु देश, काल और परिस्थितियों का हेर फेर, और उससे उत्पन्न हुई अनुभूतियों में तो अन्तर होना स्वाभाविक है ही, और इनसे प्रसूत कई चित्र इस संग्रह में हैं। इधर कुछ ही समय के अन्तर्गत हमारे जीवन-स्तर में आकाश पाताल का

अन्तर पड़ गया है, जिससे लेखक ही नहीं अपितु साधारण से साधारण नागरिक भी जैसे जीवन की गति-विधि और अभावों से उत्पन्न हुई उलझनों के प्रति सजग सा हो उठा है। प्राणी मात्र की जब न्यून से न्यूनतम आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो पातीं तब वह अपनी परेशानियों की कसौटी पर पूरे समाज या किसी वर्ग-विशेष का रहन-सहन और सुविधा असुविधाओं को परखने का आदी सा बन जाता है। जब जन जन के सामने भोजन और वस्त्र जैसी आवश्यक वस्तुओं का अभाव प्रति पल मुँह फाड़े ताण्डव करता रहता हो, जब जनता के सम्मुख शिशुओं के कंकाल एक एक बूँद दूध के लिए तड़प तड़प कर प्राण देते रहते हों, तब वह आए दिन होने वाले भोज, चमचमाती हुई कारें, और आलीशान कोठियों की चकाचौंध से किस प्रकार विमुख और उदासीन रह सकता है। जो पेट से पट्टी बाँधकर जीने को लाचार है वह जानना चाहता है कि जो कल मेरा पड़ौसी था, जिसकी बराबरी करने का अधिकार मुझे प्राप्त था, वह आज उस बड़ी कोठी में बैठ कर न जाने क्या खाता होगा, किस प्रकार रहता होगा, और कैसे जीता होगा।

लेखक और विशेषकर हिन्दी-लेखक भी उसी समुदाय का अभावों में पला प्राणी है। वह भी सब सुनता है, देखता है, अनुभव करता है, और अपनी अनुभूतियों को भाषा का रूप देने की क्षमता रखने के कारण जैसे कुछ कह डालने पर विवश होता है।

इस पुस्तक में ऐसी ही अनुभूतियों के आधार पर प्रस्तुत कुछ कहानियाँ पाठकों के हाथों में देने का यत्न किया गया है। वह सफल बन पड़ी हैं या असफल— इसका निर्णय योग्य पाठक और विद्वान् समा-

लोचक स्वयं कर लें। हाँ, इतना अवश्य कह सकती हूँ कि इन कहानियों को मैंने केवल उन्हीं निम्न वर्ग के पाठकों को लक्ष्य करके लिखा है जो पग पग पर जीवन के अभावों में घुलते रहने पर भी घर से बाहर निकलते समय अपनी वेष-भूषा का विशेष ध्यान रखने को विवश हैं, क्योंकि वह सभ्य और शिष्ट कहलाने को बाध्य हैं। उन व्यापारियों और मिल-मालिकों की निष्ठुरता तथा स्वार्थपरायणता को मैं निश्चय ही नहीं भुला सकी हूँ, जो भूखी नंगी जनता के कंकालों को रौंद कर लखपति और करोड़पति बने रहने की साध में गले तक डूबे हुए हैं।

अन्त में मेरी एक प्रार्थना सत्ता के सहयोगियों से और है, कि यदि उक्त संग्रह उन्हें कभी दीख पड़े तो वह सहानुभूति, न्याय और निष्पक्षता से इसका अवलोकन करें।

— होमवती

स्वप्न-भंग

कहने को तो गफूर कबाड़खाने की दूकान करता था और शहर भर में घूम घूम कर घर घर का कूड़ा कचरा समेट लाता था— टूटे-फूटे डिब्बे, छलनी हुए कनस्तर और फटे पुराने कम्बलों से लेकर रद्दी शीशियां, टूटी हुई साबुनदानी, ब्रुश, गन्दे शीशे इत्यादि ख़रीद ख़रीद कर बेचता रहता था। कभी कभी पुरानी मसहरियाँ और बरसातियाँ भी बेचता था वह। किन्तु प्रायः बढ़िया सामान भी उसके हाथ लग ही जाता था जो कि हिन्दू घरानों से अमीर लोग छांट देते थे या फिर मेम लोगों से झटक लाता था। बढ़िया क़िस्म के फूलदान, थर्मस, बच्चों की गाड़ियाँ, इत्यादि इत्यादि।

इधर कुछ दिनों से उसकी दुकान का काम और भी चेत गया था और आमदनी काफी बढ़ गई थी। क्योंकि पाकिस्तान जाने वाले लोग अपने अपने सामान के चौगुने पैसे बनाने की फिक्र में थे। गफूर कौड़ियों के मोल की चीज़ें रुपयों में निकाल देने का दम भरता, और उसी को सब अपना अपना रद्दी से रद्दी सामान उठवा देने का दान करते थे। इस सामान में टूटे हुये बर्तनों से लेकर खड़ाऊँ और जूतियाँ तक आती थीं उसकी दूकान पर। पलंग, बाजा, तबला, फुटबौल, लकड़ी के अन्य खिलौने तथा अनेक प्रकार की वह वस्तुएँ भी जिनकी कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती, जैसे कि पुराने बुर्के और अन्य कपड़ों के साथ बाट तराज़ू, तक, लकड़ी की गन्दी डोइयाँ और टूटे हुये पिंजरे तथा गिलट और पीतल के गहने तक। विशेष रूप से पैंठ वाले दिन सैंकड़ों बेचने वालों में गफूर की दूकान पर ही अधिक भीड़ लगी रहती और उस मीलों तक लम्बे बाज़ार में सबसे अधिक बिक्री उसी की होती थी। जब कोई पाकिस्तानी यात्री पूछता— 'कहो मियां! क्या हाल है?' तभी गफूर झट से कह देता— 'खुदा का फ़ज़ल है।' कारण— उसके अनेक परिचित हिन्दू घराने उस पर इतना अधिक विश्वास करते थे कि जो दाम उसने एक बार कह दिये बस वही ठीक हैं। गफूर की बात लौटना मानो अपने ही प्रति अन्याय करना है ऐसी धारणा उसके प्रति बन गई थी लोगों की।

ग्राहकों को खुश करना भी वह खूब जानता था। किसी के बच्चे को दो इलायची ही थमा देता और किसी के बैठने के लिये अपने ओढ़ने

की लोई ही झाड़ कर बिछाने लगता, और किसी के लिये झट पान ही लगवा लाने की चेष्टा करता। और इसी प्रकार सामान बेचने वालों को भी आश्वासन देता रहता— "अजी, इस फटी हुई दरी के टुकड़े के कम से कम दो रुपये वसूल करके दिखलाऊंगा, यह टूटा हुआ पीकदान पूरे ढाई रुपये में बिकेगा, और इन सैंडिलों पर तो दो पैसे की पालिश खर्च करने पर कोई भी ईसाइन खरीद लेगी" इत्यादि इत्यादि बातें सुनकर लोगों के मन में यह बात निश्चय रूप से जड़ पकड़ जाती थी कि गफूर निस्संदेह पाकिस्तान जाने से पहिले, उनके इस रद्दी खुद्दी सामान को बेचकर अच्छी खासी रक़म उनके हाथ थमा देगा। और वहाँ? वहाँ तो बहिश्त है बस, एक से एक बढ़िया सामान बिलकुल नया मिलेगा, सजी सजाई कोठियां, बढ़िया फर्नीचर और बिजली के पंखे लगे हुए। दो चार ख़िदमतगार, चमकती हुई कारें और बड़े से बड़ा ओहदा...! इस पर शान यह कि सीमान्त की हूरें पान लगाएंगी और जूता साफ करके पहनाया करेंगी......! दो चार के मुँह से इसी प्रकार की बातें सुन सुन कर बहुतों ने अपना वह सामान भी बेचना शुरू कर दिया जिसे आसानी से ले जाया जा सकता था। जैसे— मुँह देखने के शीशे, प्याले और प्लेटें, छुरी-कांटे, दुलाइयाँ और अचकनें, यहां तक कि बच्चों की कामदार टोपियां तक पैंठ में बिकने आने लगीं। गफूर के मन में रह रह कर तूफान सा उठने लगा— 'पाकिस्तान..? ओ कैसा होगा... वह शहर? जहाँ इतने लोग अपने घर द्वार और

कारबार छोड़कर उड़े जा रहे हैं, यह कोई बेवक़ूफ थोड़े ही हैं ? सभी पढ़े लिखे समझदार हैं। कहते हैं कि वहाँ बड़े बड़े बंगले और मकान मिलेंगे रहने को इन्हें, ऊँचे ऊँचे ओहदे मिलेंगे, आज जो तार बाबू से लेकर मामूली डाकिया है, वह कल पाकिस्तान पहुँचकर कलक्टर और कमिश्नर बन जायेगा। झोपड़ियां में रहने वालों को महल मिल जायेंगे, पैदल घिसटने वाले वहाँ मोटरों में उड़े फिरेंगे। एक हम हैं जो रात दिन झूठ सच बोलकर चार पैसे लेकर घर लौटते हैं। मँहगी के मारे नाकों दम है। हमीदन अलग जान खाए रहती है, कभी परीबंद बनवा दो, तो कभी हार ? तो क्या दरकार वहाँ इन चीजों की ? वहां चांदी के भाव सोना मिलेगा, और यहाँ पूरे साल भर जान खपाकर १॥ माशे का बुलाक बन पाया है बस...। सुना है कि कांग्रेस सरकार ग़रीबों के लिए अच्छे मकान बनवाएगी, मगर आख़िर मकान तो मकान ही हैं। फूस का छप्पर न सही, टीन की चादरें डलवा देंगे, या छत ही पटवा दो, तो उससे क्या ? वहाँ की बड़ी बड़ी आलीशान कोठियों के सामने मकान की क्या औक़ात ? सड़क के किनारे अपनी दूकान लगाये वह यही सब सोच रहा था कि गफूर के मनोरम स्वप्न को भङ्ग करते हुए उसके मुहल्ले की बड़ी मस्जिद के मुल्ला जी बोले— "क्यों, ऊंघ रहे हो क्या ? मालूम होता है कि सब सामान निकाल चुके हो। यह थोड़ी सी रद्दी-खुद्दी चीज़ें पड़ी हैं बस ! लो ज़रा हमारी भी सुन लो। यह है तीतरों का पिंजरा, और कुछ सामान कल घर से ले आना, पर ज़रा दाम अच्छे उठाना म्यां !"

गफूर जैसे आकाश से गिर पड़ा। "आप... आप भी बेचेंगे सामान, मुल्ला जी! यह क्या ग़ज़ब हो रहा है, मस्जिद में ताला डालकर जायेंगे आप ..., या किसी को रखकर ...... ?"

"अरे, रखकर क्या करना है हमें, आप मरे जग परलों– चाहे जो हो, अपने वतन जाने की बात तय कर चुके हम तो ..." मुल्ला जी ने तीतरों का पिंजरा उसके सामने रखते हुए कहा।

गफूर का सिर घूमने सा लगा— "अपना वतन ? वह अपना वतन है ? और यह, जहां पैदा हुए, खेले और बड़े हुए, न जाने कितने बुजुर्ग यहां की मिट्टी में दबे पड़े हैं ?" और फिर धीरे-धीरे उसकी आंखों के सामने बाप की क़ब्र, मां की क़ब्र, बहिन और भाइयों की क़ब्रें, फिर अपने दोनों छोटे बच्चों की समाधियां घूम गईं। इसके बाद इतने लम्बे चौड़े कोसों तक लम्बे क़ब्रिस्तान......, बड़ी-बड़ी आलीशान मस्जिदें, और मक़बरे,— सिनेमा के चलचित्रों के समान उसकी आंखों के सामने नाचने लगे। और इसके बाद अपना घर, एक एक खिड़की और दरवाज़ा। दरवाज़े में बँधी भैंस और उसकी कटिया भी दृष्टि के आगे तैरने लगी। बकरी तो उसने पिछले महीने ही ख़रीदी है, सामान ढोने का ठेला अभी नया बनवाया है... ?" गफूर की आंखो के सामने अँधेरा सा छा गया। और वह जल्दी जल्दी सामान बक्सों में भरकर ठेले पर लादने लगा। साथियों ने पूछा— "म्यां! चल दिए अभी से ?

अभी तो सूरज भी नहीं छिपा बहुत बजे होंगे तो तीन बजे का वक्त होगा बस . . . ?"

गफूर ने सामान को रस्सी से बाँधते हुए कहा— "यह तीतरों का पिंजरा अच्छा जान को आ पड़ा। इसे सँभालूँगा या अपना कुछ तिया पांचा करूँगा। दाना है नहीं इनके पास ? लो तुम्हीं रख लो, कोई आ निकले ख़रीदार तो दे देना जितने में पटे, पैसे मुल्ला जी को गिना देना. . . ।"

"क्यों तुम्हें क्या हुआ ?" रमजानी ने पिंजरा थामते हुए पूछा।

"तबियत ठीक नहीं है।" कह कर वह जूता पहनने लगा। तभी जुम्मन ग्वाले का लड़का दौड़ता हुआ आया "यह तीतर कितने के हैं जी . . . ?"

"तू लेगा क्या ?" गफूर ने ठिठक कर उससे पूछा।

"क्यों ? लेंगे क्यों नहीं तभी तो पूछ रहे हैं . . . ?" लड़का अकड़ कर कहने लगा।

गफूर ने कहा— "काजी-मुल्ला तक पाकिस्तान जा रहे हैं, और तू सारी ज़िन्दगी यहीं पड़ा पड़ा ढोर चराता रहियो . . . सब वहीं पहुँचे जा रहे हैं. . . ।"

"जा रहे होंगे तुम जैसे, अब्बा ने तो यह कह दिया है— हम नहीं जाते— कौन जाए वहां भूखों मरने को, जाड़े में सड़कों पर पड़े-पड़े

लाखों मर गए... ला बता इनका क्या लेगा ?" पिंजरा उठाते हुए उसने कहा।

"एँ, सड़कों पर पड़े-पड़े मर गए, कौन कहता है रे तुझसे— वहां की बातें सुनी नहीं अभी तूने, वहा कोई ग़रीब नहीं रहेगा..., बड़े बड़े आदमी जा रहे हैं, और तू ...।"

"अच्छा तो चला जा तू भी ..., मत बता भइया, पैसे इनके... ! मुझे तो देर हो रही है।" कहता हुआ जुम्मन का लड़का खिसकने लगा। और गफूर उसे रोकने की चेष्टा करता हुआ पूछने लगा— "कौन कहता था तेरे अब्बा से ? बता तो ......।"

"अरे किस का क्या नाम है— वह जो मकानों पर नम्बर डालता फिरता था, किसी का दामाद होकर आया है वहां ..., बड़ी बुराई कर रहा था। बीबी तो रोते रोते किसकी बीमार होकर आई है...। ले आठ आने दूं ..., इनके ?" लड़के ने अंटी में से अठन्नी निकाल कर उसके सामने फेंक दी, और पिंजरा उठा लिया।

"ना-ना आठ आने तो बहुत कम हैं, ठहर मैं तुझे सस्ता ही दे दूंगा, सुन तो और क्या कहता था वे तेरे अब्बा से ... ?" गफूर उद्विग्न सा हो उठा-- और जुम्मन का लड़का एक दुअन्नी और फेंककर चलता बना।

हमीदन ने रात भर जलती हुई तेल की कुप्पी में फूंक मार कर, पति से कहा— "रात भर न सोए और न सोने दिया। तुम्हें तो बस पाकिस्तान के ख्वाब आते रहते हैं, दिमाग आसमान पर चढ़ा जा रहा है, न किसी की सुनते हो— न समझते हो। यह जो इतने लोग यहां चुपचाप पड़े खा कमा रहे हैं, यह सब पागल हैं? गरीबा की बहू कह रही थी कि वहां धोबियों की बड़ी ज़रूरत है, पर गरीबा ने साफ़ इन्कार कर दिया जाने से। उसके घर जो भिश्ती पानी भरने आता है, सुना है कि उसकी भतीजी का खाविन्द राशन के दफ्तर में नौकर था— बस तारीफ़ों के पुल बांध रक्खे थे लोगों ने— चला बिचारा बहक कर, अब परसों उसकी चिट्ठी आई है— तोबा-तोबा करके दिन काट रहे हैं, और वह घड़ी हाथ नहीं आ रही— जब सारा घर बार उजाड़ कर वहाँ गये थे। सुनते हैं कि किसी जगह भी रहने का ठिकाना नहीं मिला— यहां तक कि रोज़ाना सराय बदलते फिरते हैं, गए थे दलिया और पुलाव खाने, वहां मकी और ज्वार के भी फज़ीते हैं। लो उठो, दूध दुह लाओ— भैंस रम्भा रही है ...... !"

गफूर के हाथ पैरों का दम छूटा जा रहा था— दुविधा में रात आंखों में काटी थी और अब सिर पर बनियों का बोझा सा धरा था। बोला— "यह भैंस बड़ी बला बँधी है सिर, पूरे पांचसौ बीस रुपये में ली थी— अब न जाने इसका कोई क्या देगा..., बकरी भी बेकार है, नसीम अब टुकड़ा खाने लगी है... ।"

"सब बेकार हैं— तो क्या सारा घर लुटाने की फ़िक्र में हो ? भैंस क्या बुरी है— दो रुपये का दूध रोज़ाना बेचने के बाद भी इतना बच रहता है कि पिया भी नहीं जाता— और रोज़ सीमियां पकती हैं।" हमीदा ने बिस्तर लपेटते हुए कहा।

"पर हमीदन ! मैं तो खुद पाकिस्तान जाने की सोच रहा हूँ, यह जो पढ़े-लिखे लोग जा रहे हैं यह क्या बेवकूफ़ थोड़े ही हैं, वहां सुनते हैं कि बहिश्त है बस— देखो, यह मुल्ला जी भी जा रहे हैं, मस्जिद को घेरे बैठे रहें, या अपना आराम देखें ...., तू एक भैंस के मारे मरी जा रही है— और वहां सुनते हैं कि कुत्ते बिल्लियों की तरह गाय-भैंसें सड़कों पर मारी मारी फिरती रहती हैं– कोई पालने वाला नहीं मिलता।"

"हूँ, तो ये कहो कि पाकिस्तान जा रहे हो, अच्छा उठो— जाओ, पर ख़बरदार जो मेरे घर की एक भी चीज़ छुई तो..., खुदा का खौफ़ तो आज न काज़ी में है, न मुल्ला में। तुम बैठे-बैठे ये मनसूबे गाँठा करो– भैंस मरी जा रही है, पंडित जी दूध लेने आते होंगे— मैं जुम्मन के लौंडे को बुलाने जा रही हूं— दूध निकलवाने.... ।" हमीदन ने बाल्टी उठा ली और गफ़ूर ने झपट कर उसके मुँह पर खींचकर तमाचा लगाया— "तेरे जैसी तो कुतिया भी नहीं पालते वहां के लोग। देखता हूँ कौन रोकने वाला है मुझे, ले अभी कौड़े करता हूं सारे सामान के ?" और फिर वह घर की एक एक चीज़ निकालकर आंगन में ढेर लगाने

लगा... खाट-खटोले, चर्खा चक्की, लालटेन, पीढ़े, डोई कपड़े, जूते, सभी कुछ।

गृहिणी ने अपना सिर पीटकर शोर मचाना शुरू कर दिया— "दौड़ो कोई जल्दी से— यह तो बिलकुल पागल हो गया, अरे हमें मारे डाल रहा है, सारा घर बर्बाद किये दे रहा है, हाय मेरी बच्ची की जान बचाओ...।" इत्यादि शोर सुनकर पास पड़ौस के सारे स्त्री-पुरुष इकट्ठे होने लगे, और साथ ही हमीदन का शोर और गफ़ूर की फुर्ती बढ़ती गई। तभी मुल्ला जी और जुम्मन का लड़का भी आपस में झगड़ते हुए वहाँ आ पहुँचे। जुम्मन ग्वाला बाहर खड़ा शोर मचा रहा था— "काजी मुल्ला भी ऐसी बातें करने लगे— भला बताओ तो लड़के ने तीतर मोल लिये हैं, या इनके घर में से चुराकर ले आया है..., भई नक़द पैसे देकर लिये हैं। म्यां पाकिस्तान जाने का ख्वाब देखकर सारे घर का सामान बेच दिये, और अब वापस मांगने लगे। लो, हो आए साहब पाकिस्तान, जब वहां की कैफियत सुनी तो बस फिसल गए, देख लिया सबको, गरीबों को कौन पूछता है वहां? जूतियां चटखाते फिरते हैं वह जो यहाँ नवाब कहलाते थे। चल बे नसरू...!" कहकर उसने अपने लड़के को आवाज़ दी। नसरू अलग ही बिखर रहा था— गफ़ूर का हाथ पकड़ कर बोला— "बता पूरे दस आने दिये हैं या नहीं तुझे, जब मुल्ला जी जा रहे थे, तब बेचने लगे और अब नहीं जा रहे तो लौटाने लगे..., यह भी कोई मज़ाक़ है....?"

गफूर लड़की का गड्डूलना फेंकने जा रहा था कि हाथ उठा का उठा ही रह गया— "कौन नहीं जा रहा रे— और कैसे दस आने दिये हैं तूने— किसे दिये हैं— ?" वह बोला।

"अच्छा तू भी झूठ बोलने लगा ? तेरा भी दिमाग खराब हो गया दीखता है, दिए नहीं तुझे कल— जब तीतर लिये थे— वाह म्यां ! रात भर में ही दिमाग़ फिर गया।" नसरू कमर पर हाथ धरे टेढ़ी गर्दन किये कह रहा था, और गफूर मुँह फाड़े तथा आंखें फैलाये उसकी ओर देख रहा था— "अच्छा तमाशा है . , मुल्ला जी भी नहीं जा रहे— और जो गए हैं— वे पछता रहे हैं।" पाकिस्तान और बहिश्त— तथा बड़ी-बड़ी आलीशान कोठियां और मोटरें— सब उसकी आंखों से स्वप्नवत् भङ्ग होने लगीं। मुल्ला जी ने अपनी श्वेत बर्फ़ सी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा— "किसी की क्या मजाल है, हम नहीं जाते— कोई हमारा कर ले, क्या करता है। नहीं बेचते अपनी चीज़... ! लाओ तीतरों के बिना घर में कलह हो रही है, बच्चा रो रोकर मरा जा रहा है... ।"

"पर मुल्ला जी, जिस तरह दुकानदार बेचा हुआ माल वापस करने में आनाकानी करता है— उसी तरह गाहक को भी हक़ होना चाहिये कि वह खरीदा हुआ सामान वापस न करे। यह आपके दस आने भेजना मैं भूल गया।" कहकर गफूर ने दस आने पैसे अंटी में से निकालकर

उनके हाथ पर रख दिये। मुहल्लेवाले गफूर की न्यायसंगत बातों से प्रसन्न होकर वाह वाह करते चले गये और हमीदा ने नसरू के हाथ में बाल्टी थमाते हुए कहा— "आध सेर दूध तुझे दूंगी ले आज तो भैंस दुहता जा।"

पर गफूर को यह कब मंजूर था कि उसकी भैंस के नीचे कोई दूसरा बैठे। नसरू से बाल्टी लेकर वह भैंस का दूध दुहने बैठ गया। लड़का मूंगफली खाता हुआ बाहर चला गया और हमीदा एक एक करके घर की सभी चीज़ें मँगवाने लगी। उस समय खूब धूप निकल आई थी और सब ओर उजाला फैल रहा था।

टी पार्टी

चौथी बार भी मि० चौहान ने पत्नी को पकड़ कर, कठपुतली के समान चारों ओर घुमाते हुए कहा— "नहीं अब भी साड़ी ठीक नहीं बंधी, जैसी होनी चाहिये। और देखो— वह आगे का पल्ला थोड़ा और लम्बा करो, पीछे से मैं ठीक किये देता हूँ, आगे के घूम ठीक करो तुम, कहीं ऊँचे और कहीं नीचे हो रहे हैं। हज़ार बार समझाने पर भी तुम से अभी तक ठीक साड़ी बांधनी नहीं आई। रात-दिन सिनेमा और जलसों में देखती रहती हो— न जाने दिमाग़ में कैसा गोबर भरा है। अरे! हम भी तो हैं— हमें किसने सिखाया है? सब देखते देखते आ जाता है। क्या मजाल जो किसी भी पार्टी में झेंपना पड़े। मगर यह तो शिष्टाचार के बिल्कुल विरुद्ध है कि मैं अकेला ही जाता रहूँ, जब बहुत से सपत्नीक शामिल होते हैं।" कहते हुये वह ग़ौर से करनदेई की ओर देखने लगे। वह हक्की-बक्की-सी आँखें फाड़े पति का मुँह देख रही थी।

वह बोले— "सुनो, देखो बालों को इतना खींच कर बांधने का फैशन नहीं है। अब बाल अगर छोटे हों तो उसे क्या कहते हैं ...... काले रंग का डाल कर नीचे तक गूँथ लेना चाहिये।"

"चुटीला", श्रीमती जी ने कहा।

"हाँ··हाँ वही, चुटीला ही से मतलब था मेरा। और सुनो, मांग में सिंदूर कुछ ज़्यादा मालूम होता है, काजल नीचे तक उतर आया है, बिना तम्बाकू खाये तो तुम्हारा काम ही नहीं चलता। हाँ दांत कैसे ख़राब हो रहे हैं— ब्रुश लाकर दिया— पर कहती हो— घिन लगती है, चुभता है। तुम्हारी सभी बातें निराली हैं। ज़रा और फैलाओ······ पाउडर ज़रा हल्का लगाना बेमालूम-सा···। नाखून रँगने की तो ख़ास ज़रूरत है नहीं, चाहो रंग लो··· लेकिन जल्दी करो। ठीक पांच बजे का वक़्त है पार्टी का। ऐसा न हो कि सब लोग आ जायें तब हम पहुँचें। यह भी अनुशासन के ख़िलाफ़ है। सैन्डिल पहन कर ठीक से न चला जाय तो चॉकलेट रंग वाली चप्पल ही पहन लेना। और देखो— चाय पीने का तरीक़ा तो तुम्हें बहुत बार बतला ही चुका हूं। ज़रा भी आवाज़ पीने के वक़्त न हो, यह भी शिष्टाचार के ख़िलाफ़ है। बच्चा एक भी साथ नहीं जायेगा। बिन्नो से कहे देता हूँ कि यहीं छत पर या लॉन में खिलाती रहेगी— सब बहन भाइयों को······। अच्छा मैं भी तैयार हो लूँ— सब समझ गईं न?"

मिस्टर चौहान श्रीमती जी को भले प्रकार समझाकर नीचे उतर आये, और वह भरसक यत्न करके पति की आज्ञा पालन करने में तन-मन से जुट गईं। किन्तु किसी ने ठीक ही कहा है कि जल्दी का काम शैतान का होता है— अचानक साड़ी का पल्ला सिंदूर की शीशी पर जा पड़ा— बस वह नीचे आ पड़ी— तेल की प्याली में ठोकर ही लग गई। कंघा छोटी मुन्नी लेकर भाग गई— उसके दो टुकड़े कर डाले उसने। किवाड़ में हाथ लगा तो दो चूड़ियां ही मौल गईं, अभी पाँच मिनट पहिले ही तो साड़ी के मैच की पहनी थीं, और सबसे ज़्यादा रंज था करनदेई को उस नये क़ालीन का जो नौकर होते ही उन्होंने पेशावर से मँगाया था। तमाम चिकना तो हो ही गया— ऊपर से सिंदूर बिखर कर बड़े-बड़े लाल धब्बे भी जगह-जगह पड़ गये थे। गृहिणी सोचने लगीं— "यदि किसी प्रकार पल भर में वह उसे फिर ज्यों का त्यों कर सकती या फिर इसमें दियासलाई ही लगा सकती......, वह देखेंगे तो खा ही जायँगे। बस आज तो......। कैसे भाग खुले— भली सरकार बनी इनकी— मेरी तो जान मुसीबत में आ गई, कभी ये करो तो कभी वो करो— आज ऐसे कपड़े पहनो तो कल वैसे......! इससे तो अपने गाँव में ही भली थी— सवेरे उठी और घर के धंधे से निबट कर ढोरों का दूध मँगवाया — गोबर पथवाया— और छाछ बिलोने बैठ गई। रोटी-पानी का काम विधवा जिठानी ही निबटा लेती थीं। वेला पर दूध पियो, चाहे छाछ।

"यहां इतने बड़े शहर में क्या धरा है हमें ? बूँद-बूँद दूध को तरस गये— इस कोकोजम तेल की पूड़ियों से घर की भैंस के घी से चुपड़ी रोटी ही भली थी। चाय पीने से जी ऊपर को आता है— न जाने यह कैसे दिन भर चाय की धुन लगाये रहते हैं...... ! तभी तो सूख कर काँटा हो गये— बच्चों का भी यही हाल है— मुँह चिकना पेट खाली— चाय और डबल रोटी खिला-पिला कर नाश कर दिया सबका। जब जानसठ में मुख्त्यारी करते थे— तब देखो— खा-पीकर चार पैसे का गहना भी हर साल बनवा लेते थे। और अब ?

"जो कुछ बचा— चल बंक में, चल बंक में ! भला ऐसे गृहस्थी चलेगी क्या ? १६ बरस की एक सिर पर झूम रही है ब्याहने को— और चौदह की दूसरी— और छोटे-मोटे पांच अलग रहे। मोटर सरकार ने दे दी तो क्या हुआ— और सारे खर्च ही नाक में दम कर रहे हैं। रोज़ चार-छः चाय पीने वाले अलग डटे रहते हैं— जाने इन्हें अपने घर कुछ नहीं मिलता क्या ?"

करनदेई की विचारधारा का बांध सहसा टूट पड़ा— नीचे से साहब ने पुकारा— "आओ जल्दी ...... ।"

गृहिणी ने कालीन लपेट कर सन्दूक के पीछे ले जाकर फेंक दिया— और सिमरक की शीशी के टुकड़े खिड़की में से कोठी के पीछे डाल दिये। इसी खींचा-तानी में माथे की बिंदी फैलकर नाक पर एक सीधी

लकीर तान गई। भौं पर भी लाली छा गई। जब मि० अजीतसिंह ने देखा तो आग बबूला हो गये— "न जाने किस कमबख़्त घड़ी में तुम्हारा जन्म हुआ था— और किस मनहूस महूरत में मेरे भाग जगे थे ...... चलो अन्दर ..... ।" और फिर कमरे में ले जाकर वह मेज़ पर पड़े मैले रुमाल से गृहिणी की बिंदी सँवारने लगे। बाहर खड़े चपरासी और ड्राइवर एक दूसरे की ओर देखकर मुस्करा रहे थे। दोनों बच्चे अलग गला फाड़-फाड़कर चीख़ रहे थे। वह दोनों कार में जा बैठे— कार पल भर में मन और शरीर में सनसनी-सी फैलाती हुई कम्पनी गार्डन की ओर उड़ चली।

बाग के दर्वाज़े में पैर रखते ही अजीतसिंह ने अपनी सोने की चेन वाली घड़ी और सुनहरी फ्रेम के चश्मे को ठीक किया— कुरते की शिकन ठीक की— और तभी उन्हें ध्यान आया— "श्रीमती जी के हाथ में न वह बड़ा सा 'शांतिनिकेतन' वाला बटुआ है जो अमीनाबाद से खरीदा था— और न रुमाल.... !" तन-बदन में आग-सी लग गई— "क्या बक्स में बन्द करने के लिए लाकर दिया था— पूरे बीस रुपये में इन्हें ! विन्नो की शादी की धुन में मरी जा रही है। जैसे दूसरा नहीं आ सकेगा... । और न रुमाल लाई साथ— क्या साड़ी से ही मुँह.... ?" पर करते क्या ? सैंकड़ों की भीड़ में अब क्या कहते गृहिणी से। खून का ही घूँट पीकर छड़ी घुमाते हुए वह अन्दर चले गए।

(२)

टी पार्टी क्या थी ? मानों पृथ्वी पर स्वर्ग की रचना की गई थी—आखिर बड़े-बड़े अफ़सर और पदाधिकारियों की दावत ठहरी, कब-कब ऐसा दिन आता है, नगर के सेठ-साहूकारों ने भविष्य की किसी आशा को हृदय में बांधकर जी खोलकर रुपया पानी की तरह बहाया था। पैसा इसी दिन के लिये तो झूँठ सच बोलकर, और जनता का तन-पेट काट कर चोर-बाज़ारी का कलंक माथे पर लगाकर कमाया जाता है।

कांग्रेस गवर्नमेन्ट ने देश की ग़रीबी दूर करने का बीड़ा उठाया है। चोर-बाज़ार को जड़ से खोद कर मिटा डालने का प्रण किया है। किसी ने कहा है — "मुँह खाए आंख लजाये।" तभी तो प्रधान मंत्री से लेकर क्लर्कों तक की दावत का आयोजन किया गया है, इतनी आफ़त मोल लेकर पैसे की जगह दस पैसे खर्च करके। विगत के मुनीम जी, "सेठ" हीरालाल आज शहर के अमीरों की नाक हैं। बढ़िया से बढ़िया सोफ़े और कुर्सियाँ क़रीने से सजाई गई हैं, भाँति-भाँति के वृक्षों की मनोहरता और फूलों से लदे पौधे और गमलों की क़तारें मन और आँखों को तृप्त किये डाल रही हैं। फिर रंग-बिरंगी साड़ियों में स्वर्ग की सी अप्सराएँ, सुन्दरी गृहिणियां अपने अपने पतियों के साथ और अन्य मित्रों के बीच चल रही हैं। सभी के मन में उल्लास है— और सभी के हृदय में आनन्द की लहरें उमड़ रही हैं। आज सभी बंधन-मुक्त हैं—सभी स्वतन्त्र हैं।

सदियों की गुलामी पैरों तले कुचल दी गई है— फिर नाना प्रकार के व्यंजन सम्मुख रक्खे गये हैं। देहली से हलवाई बुलाए गए थे— मोहन हलुए की टिकियों से लेकर बादाम पिश्ते के लौज़ तक चांदी के वर्क़ों में लपेट कर रक्खी गईं थीं। लखनऊ की मावे की "गिलौरी" और अलीगढ़ की "नुक्ल" अलग ध्यान आकर्षित कर रही थी। नमकीन की कोई क़िस्म बाक़ी नहीं छोड़ी थी। फलों के तो ढेर लगे पड़े थे। किसी को भी कहने की गुँजाइश नहीं थी कि अमुक वस्तु नहीं है। देखने वालों का क्या कहना, सुनने वालों के मुँह में पानी भर आना सम्भव है। इस ज़माने में जबकि बूँद भर तेल और गुड़ की डली तक नसीब नहीं होती लोगों को! ऐजेन्सियों का गला-सड़ा अनाज खाकर तन की शक्ति गँवा बैठे हैं सब। वह भी तो पेट भर नहीं मिल रहा। फिर दूध-घी तो स्वप्न हो रहा है। मिठाई और पकवानों की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती अब! फिर कहां वह दयनीय दशा— और कहां यह अपूर्व आयोजन! किन्तु इस आयोजन में भी जिनके भाग फूटे हैं, वह ऊब रहे हैं, दम घुटा-सा जा रहा है, और जी बैठने-सा लगा है।

करनदेई की घबराहट का कोई पारावार नहीं— "कहां आ फँसी? इन छैल-छबीली छोकड़ियों की उछल-कूद भाव-भंगी और छेड़-छाड़ को देखकर करनदेई को ढूँढे से भी कोई कोना ऐसा न मिला जहां एकांत में खड़ी होकर जी खोलकर दो सांस ले सके।

आज उसने निश्चय कर लिया था कि वह अब आगे से अपनी लड़कियों का अंग्रेज़ी पढ़ना बन्द कर देगी, चाहे घर में कितना ही क्लेश क्यों न हो।

अजीतसिंह भी उपस्थित जन समुदाय के बीच मेज़ पर जा बैठे और उसी मेज़ पर एक अन्य जोड़ा आ डटा। वह थे पार्लियामेंट्री सेक्रेटरी—मि० माथुर। अजीतसिंह ने एक बार उक्त श्रीमती जी की ओर दबी दृष्टि से देखा— और फिर खाली कुर्सी की ओर इशारा कर के करनदेई को घूरा। वह लजाती सकुचाती-सी सिर का आंचल थोड़ा आगे को सरकाती हुई वहाँ आ बैठी। मिसेज़ माथुर ने पल भर में प्यालियों में चाय ढालनी शुरू की— औरों ने भी मदद की— पर करनदेई पत्थर की शिला के समान बैठी रही। बिजली के पंखों की तेज़ हवा में भी उसके बदन से पसीना चू रहा था, ब्लाउज़ इतनी चुस्त थी कि चट चट करके टांके टूटने लगे— उसका दम फूलने-सा लगा। "आग लगे इस फ़ैशन में··" सोचते हुए उसे ध्यान आया— "हाय रुमाल तो भूल आई।" करनदेई ने सौगंध खाई अपनी गोद के लाल की— "वह अब कभी घर से बाहर पैर नहीं रक्खेगी।"

मिसेज़ माथुर ने एक चम्मच भर चीनी उसकी चाय में छोड़ कर पूछा— "और······?" पर "करनदेई" ने हाथ के संकेत से मना कर दिया। रसगुल्ला, पेड़े की मिठाई, लौज़, मठरी, केला, शंतरा और शरदा······ एक एक करके सभी चीज़ों को मना करती गई वह।

अजीतसिंह का रोम रोम जल उठा— "बड़ी असभ्य है यह, शिष्टाचार तो छू भी नहीं गया।" पर कहें क्या इस मौके पर। बोले— "इनकी तबियत कई दिन से ठीक नहीं है— चली ही आई बस......" और फिर घर जाकर भरपूर बदला लेने की बात उन्होंने भले प्रकार याद करली।

करनदेई ने काँपते हाथों से प्याला उठाया— और ओठों से लगा लिया। आज उसके दुर्भाग्य का ओर-छोर नहीं था। पहिले भी तो दो एक बार वह पार्टी में गई है— परन्तु आज तो आरम्भ से ही अस-गुन दीख रहे थे। क़ालीन ख़राब होने के ध्यानमात्र से सहसा उसके बदन में कँप कँपी-सी आ गई— और घूँट भरने के साथ ही उबलती चाय मुँह में छाले डालती हुई साड़ी पर गिर गई। हाथ का प्याला मेज़ पर रख कर वह साड़ी को झाड़ने लगी। मि० अजीतसिंह ने तुरत रुमाल जेब से खींचकर उसके ऊपर फेंक दिया। मिसेज़ माथुर अपने खूबसूरत रेशमी रूमाल से साड़ी को साफ़ करने खाते खाते खड़ी हो गईं। करनदेई को ऐसा लगा मानो वह धरती में गड़ी जा रही है। अगर धरती ही फट जाती इस समय— तो वह सीता के समान इसी में समा जाती— तब देखती कि यह इन सातों बच्चों को कैसे सँभालते हैं?

सहसा सभी पास बैठने वालों का ध्यान उधर खिंच गया। करनदेई ने फिर प्याला हाथ में नहीं उठाया। चाय समाप्त हो गई, और वह कार में आ बैठी— ड्राइवर से कहा— "पहिले मुझे घर छोड़

आओ'''।" अजीतसिंह मित्रों से हाथ मिलाने में व्यस्त रहे और वह घर आ पड़ी।

अजीतसिंह जब घर लौटे तो उन्होंने 'पोर्च' से ही गृहिणी को पुकारा— "यहाँ सुनना जी।" किन्तु उधर से कोई उत्तर नहीं मिला। रसोई में जाकर देखा— उनका नौकर रणधीर चूल्हे के पास बैठा ऊँघ रहा है— थाली में आटा गूँथा पड़ा है जिस पर हज़ारों मक्खियाँ भिन-भिना रही हैं। कमरे में गए— देखा गृहिणी बक्स में कपड़े लगा रही है। गृहस्वामी ने कड़क कर कहा— "तुम्हारी यह बेहूदगियाँ अब हद से ज़्यादा बढ़ती जा रही हैं, मुझे चार जनों में मुँह दिखाने लायक़ नहीं छोड़ा तुमने— औरतें ख़ाली इसीलिये नहीं होतीं कि चौका-चूल्हा करती रहें बस, उसके लिए हमने दो दो नौकर रख छोड़े हैं......, तुम्हें बाहर भीतर आने जाने की— सभा सोसाइटियों में मूव करने की तमीज़ सीखनी चाहिये— पार्टियों का तरीक़ा समझना चाहिये— अब ऐसे काम नहीं चलने का......, अगर यहाँ रहना है तो......। और देखो परसों मि० बागला के यहाँ पार्टी है......"

करनदेई ने बहुत शान्तिपूर्वक पति का वक्तव्य सुना और संक्षेप में उत्तर दिया— "लेकिन मैं तो आज ही— अभी घर जा रही हूँ......"

पति का मुँह खुला का खुला ही रह गया— वह विस्फारित आँखों से पत्नी की ओर देखते रहे। तभी कलुआ चौधरी ने आकर कहा— "ताँगा आ गया......"

उपहार

रेखा को पढ़ाते पढ़ाते मास्टर साहब प्रेम-विभोर हो उठे। राधा-कृष्ण के प्रेम का वर्णन और कवित्त के अर्थ को व्यक्त करते करते विरह की व्याख्या में उनकी आँखें भर आईं। रेखा मंत्र-मुग्धा-सी देखती रह गई, फिर उसने बड़े साहस से पूछा— "क्यों, क्या बात है?"

"कुछ नहीं, तुम अपना काम करो।" मास्टर साहब ने आँसू पोंछते हुए करुण स्वर से कहा। पर बालिका की बुद्धि में कुछ भी नहीं आया कि और अब क्या काम करे। वह काम ही तो कर रही थी। पढ़ना ही तो उस समय उसके सामने काम था।

मास्टर साहब का हृदय बड़ा कोमल है। वह स्वयं कवि और बड़े भावुक हैं। इतना सब तो रेखा जानती थी, किन्तु कोई भी पुरुष अकारण ही किसी नारी के सामने इतना कातर हो सकता है, यह सब उसने नहीं समझा था। सुदर्शन की "कवि की स्त्री" कहानी और मधुसूदन बाबू द्वारा रचित "गुरु-पत्नी"— तारा की चन्द्रमा के प्रति भावनाओं की बहुत बार मास्टर साहब ने व्याख्या की है, वह गद्गद् हो उठे हैं; किन्तु... किन्तु आज तो उनकी विह्वलता सीमा को पार कर गई! बालिका भी निरीह बालिका नहीं है। कॉलेज में पढ़ती है। युवती हो चली है। वह इतनी मूर्खा थोड़े ही है अब।

थोड़ी देर दोनों मौन रहे। कई बार एक दूसरे ने मन की गहराई को परस्पर पार करना चाहा। तभी घड़ी ने टन-टन करके नौ बजा दिए। एक बार दोनों ने घड़ी की ओर देखा। खाना खाने का समय बहुत पीछे छूट चुका था। घर में दूध लाओ; मीठा ज़रा कम डालना; रेखा ने अभी खाना भी नहीं खाया— इत्यादि कोलाहल मचा हुआ था। गृहिणी ने बड़े गम्भीर स्वर में कहा— "मास्टर जल्दी नहीं करता। पढ़ाता खूब है।"

मास्टर साहब मन पर पत्थर-सा रक्खे, कमरे से बाहर निकल आए।

रेखा ने घर में आकर कह दिया— "मुझे आज भूख नहीं है। सिर बड़ा दुख रहा है।"

माँ ने "अमृताञ्जन" की शीशी खोलते हुए कहा— "मेहनत ज़्यादा मत कर। तन्दुरुस्ती का भी तो ख़्याल रखना चाहिये।"

"पर पढ़ने से थोड़े ही दर्द हुआ है, अम्मा! वैसे ही हो गया है।" कहकर रेखा ने करवट बदल ली।

माँ ने कह दिया– "हाँ हवा लग गई होगी, सर्दी काफ़ी है।"

किन्तु रेखा में तनिक भी शक्ति न रह गई थी तर्क-वितर्क करने की। उसका रोम-रोम जला जा रहा था। मानो वह कुछ भूलना चाहती है, पर भूल नहीं सकती; बल्कि इस यत्न में उसका धीरज और भी छूटा जा रहा है; हृदय जैसे बैठा जा रहा है। मन पर भारी बोझ का अनुभव होने लगा उसे। फिर भी वह यत्नशील है। वह भारतीय ललना है। भले घर की लड़की है। उसकी और बहनें भी तो पढ़ी-लिखी हैं, किन्तु वह किसी के बारे में क्या जाने? आज उसका मन तो न जाने कैसा हो रहा है!

एक बार उसने निश्चय किया, कल से वह स्वयं पढ़ेगी। पिता से कहेगी, मुझे मास्टर की ज़रूरत नहीं है। किन्तु ... किन्तु क्या वह कोर्स पूरा कर सकेगी? इस प्रकार कोन समझाएगा उसे? और मास्टर साहब क्या समझेंगे? वह उसे कितने यत्न से पढ़ाते हैं। डेढ़ घण्टे का ट्यूशन और तीन घण्टे से कम तो किसी दिन नहीं बैठते। वह कभी छुट्टी नहीं लेते— चाहे त्यौहार ही क्यों न हो। कितने विनम्र हैं! और कोई

मास्टर ऐसा करता या न करता, किन्तु वह स्वयं निबन्ध लिख लाते हैं मेरे लिए। जो मैं लिखती हूँ, उसे ठीक करने के लिए ले जाते हैं अपने घर। मानो उन्हें यह अवश्य करना है— चाहे स्कूल के समय ही में क्यों न करें। लगता है, जैसे उनका यत्न दिन-दिन बढ़ता ही जा रहा है। यदि किसी प्रकार यह सम्भव हो सकता कि मेरे बदले में वही 'पेपर' कर आते, तो वह इतना भी अवश्य करते। पर क्या सभी मास्टर ऐसे होते हैं ······ ?

रेखा न जाने कब तक इसी विचार में डूबी रहती, किन्तु माँ ने उसकी भावनाओं को सहसा झकझोर डाला। बोली— "कहे तो आधा नींबू लाऊँ, नमक-मिर्च लगाकर। जी कुछ ठीक हो जाएगा।"

"नहीं। सिर फटा जा रहा है। अभी कुछ आँखें लगी थीं। तुमने जगा ही दिया।" कहकर रेखा ने फिर करवट बदली, और माँ अपराधिनी की भाँति खड़ी की खड़ी रह गई।

—२—

मास्टर साहब ने जैसे ही कमरे का दरवाज़ा खोला, तो देखा कि बच्चे सोए पड़े हैं और गृहिणी उनकी प्रतीक्षा में दीवार से सटी ऊँघ रही है। "आज मैं खाना नहीं खाऊँगा। दूध है क्या ?" कहते हुए कालीपद बाबू ने चादर कंधे से उतारकर खूँटी पर डाल दी और स्वयं बिस्तर पर बैठ गए। "आज कुछ पल्पिटेशन-सा हो रहा है। तबीअत ठीक नहीं है।" कहकर उन्होंने तकिए का सहारा ले लिया।

कला ने घड़ी की ओर दृष्टि डालकर कहा— "कितने घंटे पढ़ाते हो ? साढ़े नौ बज गए हैं। वैसे कहते हो, तबीअत ठीक नहीं। घर में आते ही तबीअत खराब ......" और वह दूध का गिलास लाकर सामने खड़ी हो गई।

मास्टर साहब ने एक बार सिर से पैर तक कला को देखा। उनकी समस्त सौन्दर्य-भावना बालू में बनाए चित्र के समान एक ही झोंके में उड़ गई— यही है रूप, यही है सौन्दर्य ! छिः ! उन्हें कला का साँवला रंग एक दम काला जँचा और कपोलों की उभरी हुई हड्डियाँ तथा गढ़े में धँसी आँखें अजीब बेढङ्गी मालूम हुईं।

कला ने दूध का गिलास और भी पास करते हुए कहा— "लो, ठण्डा हुआ जा रहा है।"

मास्टर साहब ने दूध थामते हुए कह दिया— "जाओ, सो रहो अब।"

गृहिणी का शरीर जलने-सा लगा— इन्हें अब भी अवकाश नहीं है ! बोली— "घर में न दाल का दाना है और न अनाज का। लकड़ियों के लिए चार दिन से बराबर कह रही हूँ। कल सामान आए बिना खाना न बन सकेगा।"

"हाँ हाँ, सुन लिया ; बस। सामान इस वक्त तो आने से रहा !" कहते हुए कालीपद बाबू लिहाफ़ ऊपर लेकर लेट रहे। गृहिणी ने एक

एक करके चारों बच्चों को घसीट कर बराबर वाले कमरे में डाल दिया और फिर धम्म से कमरे का दरवाज़ा बन्द कर लिया।

प्रेम के प्रतिकार में की गई अवज्ञा मृत्यु से भी अधिक भयानक और पाहन से भी अधिक कठोर होती है। कला को घंटों हो गए जागते जागते। आँखें पत्थर हो गईं। नींद का नाम नहीं। रात-दिन तेली के बैल के समान पिलती रहती है, फिर भी मुँह से दो मीठे बोल तक सुनने को नहीं मिलते। चार चार बच्चे छाती पर धर दिये। इन्हें क्या नहीं चाहिये— खाना-कपड़ा, जूता-छाता, किताब-कापी, पेंसिल-कलम। रात-दिन उसकी छाती पर चढ़े रहते हैं। कहाँ से करे वह, कौन देता है उसे पैसा? दो-चार रुपये तीज त्योहार पर माँ भेज देती है। वे भी इन्हीं की भेंट चढ़ जाते हैं। महीनों हो जाते हैं, कभी चार चूड़ियाँ बदलने की नौबत नहीं आती। जो कुछ कमाते हैं, उससे पेट ही नहीं पाटे जाते, कपड़ा तो दूर रहा। पूरे छः साल हो गए। आग लगे इस महँगी में— घर का गहना तक बेच-बेच कर खा गये। और, मैंने ही अपने हाथ से उतार-उतार कर दे दिया। फिर भी यह फल मिलता है कि सीधे मुँह बात नहीं करते। इन्हें कौन हूर परी मिल जाती? मिल भी जाती, तो रात-दिन अपने हाथ-पैर ही निरखती रहती— चार चँदिया भी मुश्किल से टैंक कर देती। यहाँ चौका-बर्तन तक खुद घसीटना पड़ता है। नौकर रखना आजकल हँसी-खेल थोड़े ही है। जितना खुद कमाते हैं, सब देकर भी नौकर के खर्च का पूरा नहीं पड़ेगा। ट्यूशन-

ट्यूशन ? रात-दिन वही फेर रहता है। न जाने क्या करते हैं वहां ? घर में आते हैं खाते फाड़ते ··· और ··· और बाहर ?

कला को शुरू से आज तक की एक-एक बात याद आने लगी। क्या-क्या अरमान लेकर वह इस घर में आई थी। पहले जो कुछ भी थोड़ा-बहुत लाड़-प्यार था, धीरे-धीरे सब पर धूल पड़ गई। दिन में दस दफ़े तो उस लौंडिया की चिट्ठी आती रहती है। ऐसे रहते हैं जैसे पागल ···। मुँह सूखा रहता है और रंग पड़ गया है एक दम काला स्याह। ट्यूशन भी इन्हें लड़कियों के ही मिलते हैं या ··· फिर ··· टाली। कला का मन सुलगने-सा लगा।

खिड़की में से जाड़े की तीखी और ठंडी हवा लगने से बच्चे कुल-बुला रहे थे। उसने एक बार उधर देखा और उपेक्षा से मुँह फेर लिया। परन्तु माँ का हृदय अधिक सहन न कर सका और उसने फटे हुए लिहाफ़ को खींच-तान कर पास-पास सोये तीनों बच्चों के ऊपर डाल दिया।

बड़े लड़के ने तभी माँ से कहा— "अम्मा ! सुन नहीं रहीं, बाबूजी पानी माँग रहे हैं।"

वह उठी और गिलास-भर पानी नल से भरकर पति के सिराहने धरी मेज़ पर रख आई। फिर उसने मन-ही-मन सोचा, क्या इन्हें भी नींद नहीं आई ? दिन-भर जान लड़ाए फिरते हैं। न खाने का होश,

न सोने का समय। इतना पढ़ने-लिखने के बाद भी बरसों पढ़ाते-पढ़ाते हो गये, कुल सौ रुपए ही महँगी सहित मिलते हैं। कला को ध्यान आया, उसके पति के साथ पढ़े हुए आज डिपुटी कलक्टर भी हैं और वकील, मुंसिफ भी। यह उसी के भाग्य का दोष है; बस, और क्या कहे?

नारी का हृदय धीरे-धीरे मोम के समान पिघलने लगा। वह पति की शुभकामना करती हुई सोचने लगी, यह बने रहें, बस। रूखी-सूखी खाकर ही दिन काट लेंगे। सदा ऐसी महँगी थोड़े ही रहेगी। पहले पचास मिलते थे, तब भी पेट भर जाता था; अब सौ भी थोड़े हैं। सस्ता होता तो यही बहुत दीखते। फिर वह मन-ही-मन घर का हिसाब जोड़ती हुई पति के पास जाकर बोली— "लाओ, सिर दबा दूँ।"

"न।" कहकर कालीपद बाबू ने सिर से लिहाफ़ लपेट लिया। आज सचमुच ही उन्हें ज़रा देर के लिए भी नींद नहीं आई थी।

कला वापस आकर बिस्तर पर पड़ रही। कालीपद अपने विचारों की केन्द्र— रेखा— के बारे में सोचते रहे। उसे किसी दिन 'भ्रमरदूत' के दो-चार पद सुनाने का लोभ वह किसी प्रकार मन से नहीं हटा सके। तुरन्त उठ कर आलमारी खोली और अगले दिन 'भ्रमरदूत' साथ ले जाने का निश्चय करके, पुस्तक निकाल कर मेज़ पर रख दी और फिर वही उधेड़-बुन उनके मस्तिष्क में तूफ़ान-सा उठाने लगी। उन्हें पता नहीं, कब वह सोए।

सुबह जब उठे तो हाथ-पैर ही क्या, सारा शरीर टूटा-सा जा रहा था। उस दिन स्कूल पढ़ाने भी नहीं गये। परन्तु शाम को जब वह रेखा के घर जाने का साहस कर वहाँ पहुँचे, तो मालूम हुआ- "आज दिल्ली से उसे देखने के लिये कुछ लोग आए हुए हैं। अब तो वह कल ही पढ़ सकेगी।" मास्टर साहब का दिल बैठने-सा लगा— जैसे अब दो क़दम भी चलना उनके बस का नहीं रहा। चक्कर आ रहा था। जी घबराने लगा। तभी देखा, रेखा उन्हें संकेत से पिछले बरामदे की ओर बुला रही है। उसकी आँखें फूल-सी रही हैं और चेहरा और भी सफ़ेद पड़ गया है, मानो महीनों की बीमार हो।

मास्टर साहब ने आज से पहले कभी इतने गर्व का अनुभव किया हो, ऐसा एक दिन भी उन्हें इस समय याद नहीं आया। तो क्या रेखा भी उन्हें ··· उनसे प्रेम ···? आगे की बात सोचने में वह कुछ कटने से लगे और अपराधी के समान सिर झुकाए उसके सामने जाकर खड़े हो गये।

युवती बालिका ने केवल इतना कहा— "कल प्रातः ही सब लोग जा रहे हैं। आ सकें तो सुबह आठ बजे आइए। गाने की छुट्टी कर दूँगी।"

मास्टर साहब ने तृषित नेत्रों से एक बार सिर से पैर तक बालिका को देखा और फिर तेज़ी के साथ बँगले से बाहर निकल आए। उस

समय उन्हें ऐसा अनुभव हुआ, मानो वह किसी का सर्वस्व चुराकर अथवा किसी की हत्या करके भागे चले जा रहे हों।

घर आकर देखा, तो कला उनके कपड़ों में साबुन लगाए खूब पीट-पीटकर धो रही है और शायद इसी क्रिया में उसके एक हाथ की सारी चूड़ियाँ भी मौल गई हैं। साथ ही उन्हें ध्यान आया, इतनी रात को कपड़े धो रही है? पर आगे जैसे कुछ भी सोचने का अवकाश नहीं था।

कला ने पूछा— "आज पढ़ाने नहीं गये क्या?"

उन्होंने तुरन्त ही चालित यंत्र के समान कह डाला— "नहीं।"

—३—

रेखा ने दूसरी श्रेणी में ससम्मान एफ० ए० पास कर लिया। तय हुआ कि बी० ए० बाद में होता रहेगा। अच्छा घर-वर मिल रहा है। कल कौन जाने क्या हो? सौ वैरी सिर पर मँडरा रहे हैं। रिश्ते अनेक ढूँढे पर हाथ से निकल गए। अब तो जाड़ों में विवाह कर ही देना चाहिए। रेखा ने बहुत हाथ-पैर पीटे, पर उसके माँ-बाप जैसे पत्थर पर लकीर खींचे बैठे थे। लड़की की एक भी बात न मानकर वह विवाह की तैयारी में जुट गए। रेखा का मन नहीं लगता था— और शायद जी लगाने के लिए ही उसने मास्टर साहब से गीता और रामायण पढ़ना शुरू कर दिया था। माँ ने सोचा, उसकी लड़की कैसी सतजुगी है? जब

से रिश्ता हुआ है, दिन-दिन घुलती जा रही है। मुझे छोड़कर न जाने कैसे रहेगी ससुराल में ?

सखी-सहेलियाँ छेड़ने लगीं— "सोच मत करो। अब तो थोड़े ही दिन रह गये। अभी से यह हाल है ! वहाँ जाकर तो कभी स्वप्न में भी हमें देखना पसन्द नहीं करोगी।"

पर रेखा ? उसके मन की तो वही जाने। अब तो कोई दिन ऐसा नहीं जाता, जिस दिन वह दिन में दो-चार बार रो न लेती हो। माँ समझाती हैं, पिता बहुत तसल्ली देते हैं। मास्टर साहब से भी उसका रोना नहीं देखा जाता। वह अक्सर स्वयं रो पड़ते हैं, पर करें क्या ? रेखा तो बताशे के समान रात दिन घुलती जा रही है।

उसने एक बार उस नवयुवक की ओर देखा भी तो नहीं, जो अपने जीवन की संगिनी बनाने के लिये एक बार उसे आकर देख गया है। वह डिपुटी कलक्टर है। अमीर बाप का बेटा है। उसे बराबर पत्र भी लिखता है। पर रेखा कभी बेमन से उत्तर दे देती है, कभी वह भी नहीं। वह अपना भविष्य बनाना चाहती है, पर जैसे कोई उसके चित्रों को तुरन्त मिटा डालता है, उसके संसार को लूट लेता है।

धीरे-धीरे छः मास बीत गये। लगते अगहन की अष्टमी का दिन उसके सौभाग्य की सूचना देता निकट आ गया। रेखा ने बान-तेल, उबटन कुछ नहीं कराया। सब ने कह दिया— यह बुढ़ियों के ढकोसले

हैं। आज-कल की पढ़ी लिखी लड़कियां कब पसन्द करती हैं यह बुढ़िया-पुराण ?

घर के सभी स्त्री-पुरुष, नौकर-चाकर, अतिथि और अभ्यागत अनेक कार्यों में व्यस्त थे। रेखा की सखियाँ उसे सजाने में व्यस्त थीं। जितनी भी सुन्दर वह उसे बना सकें, उसी रूप में वह दूल्हे के गले में वरमाला डालने जायगी। गुलाब के फूलों के बीच गोटा लगा-लगा कर हार गूंथा गया। पिताजी ने पूरे हज़ार का कंठा बम्बई से मँगाया। लेकिन यह रेखा, दूल्हे को बरोठी पर क्या केवल फूलों का हार ही पहनाएगी ?

जड़ाऊ और मोतियों के गहनों से लदी हुई रेखा, जब हलके मोतिया रंग की भारी बनारसी साड़ी पहन कर तैयार हुई, तो मानो साक्षात् रति और लक्ष्मी ही भूतल पर आई हो। माँ ने राई-नोन उसके ऊपर से उतार कर फेंक दिया। सहपाठिनियों ने उसकी बलइयाँ लीं। तभी गाजे-बाजे के साथ दूल्हा बरोठी पर आ खड़ा हुआ। रेखा मंथर गति से सखियों के बीच 'माला' डालने चली— मानो बेहोशी की हालत में उसे कोई खींचे लिये जा रहा हो, और फिर उसे अनुभव हुआ कि किसी ने सहसा उसके दोनों हाथ ऊपर उठाकर, झुके हुए मस्तक में माला डलवा दी। तभी न जाने कैसे पल भर के लिए बालिका की सुन्दर और कजरौरी आँखें उसी की आँखों से जा मिलीं, जो उसके भविष्य का भाग्य था। बालिका का रोम रोम सिहर उठा— 'इतना रूप और तेज! आज तक

उसने नहीं देखा....कैसे बलिष्ठ अङ्ग और सौम्य आकृति !' जैसे उसे कुछ स्मरण हो आया और वह पृथिवी में गड़ी-सी जा रही थी। उसे लगा, मानो जूठन भरा थाल लेकर वह देवता को चढ़ाने गई थी। कमरे में आकर वह पलंग पर पड़ रही। थोड़ी देर में फेरे होने वाले थे। माँ ने मुँह जुटाने का आग्रह किया। सारा घर दौड़ पड़ा। पिस्ते की लौज, समोसा, मलाई का लड्डू— किसी चीज़ का भी एक कण लड़की मुँह में डाल ले। पर उसे कुछ भी खाने की इच्छा नहीं थी। उसका दम घुटा-सा जा रहा था। फिर भी सब ने देखा, रेखा के चेहरे पर अपूर्व सौन्दर्य के साथ अपार सन्तोष के चिह्न स्पष्ट दीख रहे हैं।

अगले दिन उसकी विदा थी। अनेक प्रकार के गहने, कपड़े, बर्तन और फ़र्नीचर पिता ने बड़े चाव से उसके लिये ख़रीदे थे। बहुत से मित्र भाँति-भाँति के उपहार उनकी लड़की को देने के लिये लाये थे। रेखा की सहेलियों ने चुन-चुन कर बढ़िया-से-बढ़िया चीज़ें उसे भेंट-स्वरूप दी थीं। मास्टर साहब भी पिछला सारा दिन उसके उपयुक्त तथा अपनी सामर्थ्य के अनुकूल उपहार खोजने में व्यस्त रहे। बड़े परिश्रम और विचार के बाद उन्होंने बहुत बढ़िया "लैटर पैड" तथा लिफ़ाफ़ों का एक सेट ख़रीदा। फिर हज़ारों डिज़ाइनों में से उन्हें एक भी ऐसा नहीं जँचा, जो उस पर छपाया जाता। आख़िर उन्होंने स्वयं एक चित्र बना कर प्रेस वालों को दिया— सुनहरे अक्षरों में पैड तथा लिफ़ाफ़ों पर छापने के लिए। एक सुन्दर चिड़िया चोंच में लिफ़ाफ़ा दबाए उड़ी जा रही है। लिफ़ाफ़े पर

लिखा है— "प्रेमोपहार", और ठीक उसके सामने नन्हीं-सी डाल पर बैठा उत्सुक चिरौटा आकाश की ओर देखता हुआ दूसरे कोने पर था। मास्टर साहब का हृदय आनन्द-विभोर हो उठा— अपनी सूझ और सफलता के अतिरिक्त रेखा के मन के करुणा-भरे उल्लास की कल्पना में।

पैड तथा लिफ़ाफ़ों को 'बटर पेपर' में सुघराई से लपेटकर उन्होंने रेशमी फीते से बाँध दिया, और रेखा को भेंट करने के बाद ही घर लौटने का निश्चय किया।

लान में सैंकड़ों ही घराती और बराती उपस्थित थे। भाँति-भाँति के वस्त्र-आभूषण लड़के वाले की ओर से किश्तियों, थालों और परातों में सजाये जा रहे थे। सामने वाले बरामदे में लड़की वाले की ओर से दिया गया सामान मेज़ों पर सजा पड़ा था। पिता के अनेक मित्रों और रेखा की अनेक सखियों के उपहारों पर 'नेम कार्ड' लगे हुए थे। साड़ियाँ, गहने, चाँदी के बर्तन और सलमे के काम की चप्पलों से लेकर सीने की मशीन और प्यानो तक उपहार में आए थे। पिता और ससुर के घर के सामान का तो कहना ही क्या ?

मास्टर साहब चुपचाप करंडी में पैड लपेटे कोठी में चले तो आये ; परन्तु उन्हें ऐसा लगा, मानो वह चोरी करने या डाका डालने अथवा किसी की हत्या करने जा रहे हों। फिर इतने बड़े लोगों के बीच अपने को प्रकट करने में जो संकोच और हीनता का अनुभव उन्हें हो

रहा था, उससे अधिक लज्जा थी उन बहुमूल्य उपहारों के बीच उस पैड के प्रकट करने में, जिसे आज सारा शहर छानकर वह पूरे ५॥ रु० में खरीद कर छपा लाये हैं। परन्तु उनकी कलाप्रियता और सूझ की दाद दिये बिना रेखा तो कदापि नहीं रह सकती।

उन्होंने धीरे-धीरे आगे बढ़ कर गृहस्वामी और परिचितों से नमस्कार किया ; किन्तु आज किसे अवकाश था ? बराती लोग विदा की जल्दी में उतावले हो उठे थे और घर वाले सब अत्यन्त व्यस्त थे। मास्टर साहब को बैठने का साहस नहीं हुआ और न अपने लाए उपहार को देने की हिम्मत हुई। उनका धैर्य छूटने लगा और वह इधर से उधर टहलने को बाध्य हो गये। इसमें भी उन्हें अशिष्टता का अनुभव हो रहा था। कोई टोक न दे, कोई कुछ कह न बैठे ... ?

सहसा अन्दर से पकवान का टोकरा सिर पर लादे उन्हें घर का महरा दीख पड़ा। जब वह अन्य सामान के निकट टोकरा रखकर वापस जाने लगा, तो मास्टर साहब ने लपक कर उसे संकेत से बुलाते हुए कहा— "यह रेखा बीबी को दे देना।" और चादर में लिपटा पैड वह निकालने लगे।

महरा ने जल्दी से उत्तर दिया— "जमाई बाबू के साथ वह क्या सामने ही आंगन में पलंग पर बैठी हैं। क्या वहीं दे दूँ ?"

मास्टर साहब की दृष्टि अनायास ही सामने की ओर उठ गई। देखा, बहुत-सी कुलवधुओं के बीच रेखा, पति की बग़ल में नीची दृष्टि किए बैठी है। उसके रूप की सीमा नहीं और हृदय का उल्लास जैसे रोम-रोम से फूटा पड़ रहा है। पास ही बैठा युवक भी मानो साक्षात् कामदेव की छवि छीन लाया है। उनके पैरों के नीचे की पृथिवी खिसकने-सी लगी और सिर में चक्कर आने लगा। वह उलटे पैर घर की ओर भागे।

गृहिणी छत पर बैठी सब्ज़ी छील रही थी और बच्चे एक-दूसरे से झगड़ने में व्यस्त थे। सूरज डूब चुका था और पक्षी नीड़ों की ओर उड़े जा रहे थे। उन्होंने एक शब्द भी नहीं कहा और कमरे में घुस गए। कंधे से चादर उतार कर फेंक दी और बिस्तर पर जा लेटे।

कला ने धीरे-धीरे कमरे में प्रवेश कर पूछा— "क्या बनाऊँ— कच्ची रसोई या परावठे? जी कैसा है? आज तो बड़ी देर से लौटे?"

कालीपद बाबू ने संक्षेप में कह दिया— "काम ज़्यादा था आज। जो मन हो, बना लो।"

और अगले दिन प्रातः जब वह सोकर उठे तो देखा, गृहिणी ने उनकी करंडी की तह बनाकर खूँटी पर टांग दी है और वह हाथ में पैड थामे उलट-पलट कर देख रही है। पति को जगा देख कर बोली— "इसका क्या होगा? बड़ा महँगा मिला होगा?"

"हाँ, तुम्हें भेंट देने के लिए लाया हूँ। कहती रहती हो न कि कभी कुछ लाकर नहीं देते।"

"पर मेरे किस काम का यह ? पीहर तो यहीं है और ससुराल के गाँव जाने का मौक़ा अब शायद ही कभी आवे। इससे तो एक जोड़ी चप्पल ही ले आते— बिलकुल टूट गईं हैं। पैरों में कीलें चुभती हैं...।"

जीवन-क्रम

यह जो दस-बारह साल की लड़की सुबह से रात तक घर-घर चौका-बर्तन और झाड़ू-बुहारी का काम यन्त्र के समान करती फिरती है, इसका नाम कल्लो है, बस।

वास्तव में कल्लो उतनी काली नहीं है; आँख-नाक भी सुघर हैं, पर रंग-ढंग इसके बड़े अजीब हैं। सिर पर जो यह एक-एक बालिश्त लंबे बाल हैं, यह तेल कंघी बिना उलझ-उलझ कर जूना हो गए हैं और अब इन्हें जटा कहने में ज़रा भी अतिशयोक्ति न होगी। आँखों को प्रायः बड़ी-बड़ी होने पर भी दीड़े गंदा किये रहती हैं और मुँह भी चिपकता-सा रहता है। ऐसी ही उसकी वेष भूषा रहती है। इधर-उधर से जो कपड़े उसे दान स्वरूप सेवा के बदले में मिलते रहते हैं, उनका भी कोई सिल-सिला नहीं होता। कहीं से उसे जाड़ों की कड़कड़ाती सर्दी में जाली की फटी चीथड़ा बनियाइन मिल जाती है और किसी घर से अंगारे बरसाती हुई गर्मी में रुई की मैली और बिना बटनों की जाकट प्राप्त हो जाती है। यही उसके अङ्ग ढकने के साधन हैं जिन्हें वह समय-असमय शरीर से लपेटे रहती है।

जब वह सलवार के ऊपर बनियान पहन कर सड़क पर चलती है तो राह चलते हुए पथिक सहसा ठिठक कर उसे सिर से पैर तक देखने लगते हैं और जब वह पतलून के ऊपर रुई की जाकट अथवा जाँघिये के के साथ एड़ी तक लम्बा कुरता अथवा फ्राक पहन कर आती है, तब घरों के अन्य नौकर अपने-अपने हाथ का काम छोड़ कर खिलखिला उठते हैं। इस हँसी में घर के मालिक-मालकिन तथा बच्चे भी सहयोग दिये बिना नहीं रह सकते। पर कल्लो को जैसे किसी से कुछ लेना देना नहीं, अपने काम से ही काम रहता है उसे तो।

न हर्ष न शोक, न राज़ी और न नाराज़ी। बल्कि इससे उल्टा यह होता कि जब आस-पास के लोग उस पर व्यंगोक्तियाँ कसते, तो वह और भी ज़ोर-ज़ोर से बर्तन रगड़ना शुरू कर देती, या कपड़ों को और भी धमाधम कूटने लगती। झाड़ू लगाती होती तो चार ही हाथ में सारा आँगन बुहार डालती और कभी पत्थर की शिला के समान बिना किसी बात के भी खड़ी की खड़ी रह जाती, तब क्या मजाल जो कोई उससे एक गिलास पानी भी प्राप्त कर सके, अथवा एक तिनका भी उठवा सके। चाहे धरती चल जाए पर कल्लो टस से मस नहीं हो सकती; न उसे इसकी चिन्ता रहती है कि कब कौन उससे राज़ी है या कौन कब नाराज़ है। उसे जैसा भाता है, करती है।

कभी-कभी कल्लो हँसती भी है, उस घर में, जहाँ उसे छाछ मिल जाती है या कभी रोटी पराठे के टुकड़े के साथ गुड़ की डली मिल जाती

है; किन्तु उसे रोते किसी ने कभी नहीं देखा। एक दो बार रास्ता चलते लड़के उसे छेड़ने लगते हैं और यहाँ तक कि ईंट-पत्थर से भी उसके ऊपर प्रहार कर बैठते हैं। पर कल्लो बहते हुए खून को चुपचाप पानी से धोकर, मिल गई तो मैली कुचैली कत्तर लपेट कर, फिर काम में लग जाती है। न किसी की शिकायत से उसे मतलब और न किसी की प्रशंसा से काम।

वैसे वह काम बहुत करती है। अभी किसी ने कहा : 'कल्लो, पानी लाओ एक गिलास।' और तभी दूसरा कह उठा : 'पीकदान रख जा री यहाँ।' इतने में गृहिणी चिल्ला उठी : 'घंटों हो गए चाय पिये, अभी तक बर्तन साफ़ नहीं कर पाई।' आदि आदि वाक्यों की गोलियाँ सी छूटती रहती हैं उसके ऊपर, किन्तु वह ठीक उसी प्रकार डटी रहती है जैसे कोई चट्टान हो; यहाँ तक कि वह किसी की ओर देखती भी नहीं। कभी-कभी उसकी यह बात बहुत बुरी भी लगती है। कारण, जब कोई उससे पानी, पान या कोई चीज़ माँगता है, तब वह अक्सर मुँह दूसरी तरफ़ फेर कर वह वस्तु पकड़ा देगी, उसे इस बात से कोई मतलब नहीं कि लेने वाले ने गिलास ठीक से पकड़ लिया या नहीं। पानों की तश्तरी थाम ली या नहीं। चाहे उसकी तरफ़ से फ़र्श खराब हो या किसी के कपड़े, अथवा सोने का बिस्तर, किन्तु हमेशा वह मुँह दूसरी तरफ़ करके चीज़ पकड़ायेगी। लेने वाला यदि सावधान नहीं होगा तो अवश्य ही कोई दुर्घटना हुए बिना न रहेगी।

कल्लो को कोई चिन्ता नहीं। कोई डाँटता है तो डाँटे, झिड़कता है तो झिड़कता रहे, वह चल देगी मुँह फेर कर। इसलिये और लोग ही सावधान रहने के आदी हो गए हैं। क्या करें महँगी का ज़माना और नौकरों का अकाल, कैसे भी हो दिन तो कटें। फिर कल्लो जैसी नौकर, सस्ती और हर काम करने को तैयार, थोड़ी ढीठ है तो क्या हुआ, काम तो करती ही है।

मानो कोई त्योहार आ गया, तो घर की लड़कियाँ उसे ज़रा सी मेंहदी लगाने को दे देंगी, या दो चार पुरानी उतरी हुई चूड़ियाँ थमा देंगी, और कल्लो इसी लालच में बहुत सी मेंहदी खूब रगड़-रगड़ कर पीस देगी। दो कचौरियों के लालच में खूब दाल पीस देगी और फिर भी अगर कोई न देगा तो वह नाराज़ नहीं होगी। कभी-कभी उसे बासी और सूखे हुए पान का टुकड़ा मिल जाये तो कितने ही पान ज़रूरत बिना ही लगाकर डाल देगी और यदि उसका मन न होगा तो उसके ज़िम्मे जो बर्तन मलने आदि का काम है, उसे भी उल्टा-पुल्टा करके चुपके से आँखों में धूल झोंक कर भाग जाएगी। फिर दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें घर यही सिलसिला।

इसीलिये सुबह छः बजे से लेकर रात के दस बजे तक कल्लो मशीन की तरह घूमती रहती है— पता नहीं वह थकती है या नहीं। बीमार तो वह शायद होती ही नहीं। या उसकी बीमारी का किसी को पता ही नहीं चलता, क्योंकि वह नागा कभी नहीं करती। मान लो कि कभी उसके

पेट या सिर में दर्द है तो इससे क्या ? काम उसे करना है, करेगी। वह जो बुढ़िया हर महीने इसका वेतन इकट्ठा करने के लिये दूसरी-तीसरी तारीख़ को घर-घर झाँक आती है, उसे किसी बात से कोई मतलब नहीं। उल्टी दो-चार शिकायतें सुनकर कल्लो ही को डाँट जाती है, 'काम ठीक से करा कर, तेरी काया तो चलती ही नहीं, रात भर घुर्र-घुर्र करके सोती है, फिर दिन में काम क्यों नहीं होता ?' इत्यादि, इत्यादि।

वेतन प्राप्ति के समय बुढ़िया एक बात का और भी ध्यान करती है। उस दिन यदि उसके माँगने पर किसी ने दाल नहीं दी, खिचड़ी के लिये चावलों को मना कर दिया अथवा धोती या जम्फर माँगने पर कह दिया कि 'इस समय है नहीं।' तो बुढ़िया इस अवज्ञा की पूर्ति कल्लो के द्वारा कराने में नहीं चूकेगी। वह चुपके से पेड़ की आड़ में खड़े होकर, या दीवार के पीछे छिप कर कह देगी कल्लो से कि 'इनके घर बहुत देर मत लगाया कर, रात को घर जल्दी लौटा कर।' और तब कल्लो दो-चार दिन उक्त परिवार को खूब तंग करने की चेष्टा करती रहेगी, परन्तु उसे दादी से क्या मिलता है ? और मालिकों से क्या ? इसका निर्णय स्वयं करके पुनः ठीक हो जाती है। जैसे उसके लेखे सब व्यर्थ हो गया, दादी का कहना मानना भी और मालिकों की उपेक्षा करना भी।

बहुत तंग आकर जब कोई कह देता है कि 'हम, बुढ़िया, अब इतनी लापरवाही बरदाश्त नहीं कर सकते, दूसरा इन्तज़ाम करेंगे......।'

तब बुढ़िया सचेत होकर एक दो बार महीने में स्वयं भी चक्कर लगा जाती है, पर उसकी नित नई फ़रमाइशें लोगों को इतना तंग कर देती हैं कि खुद कह देना पड़ता है: 'बुढ़िया तू क्यों हैरान होती है।' लेकिन कभी-कभी इस लड़की के ऊपर बड़ी दया भी आती है। सर्दी की ठंडी हवा, बारिश और गर्मियों की झुलसाती हुई लुओं में घूमते-घूमते इसकी खाल भैंस के चमड़े जैसी कठोर हो गई है, तन पर न ढंग का कपड़ा, न पेट को रोटी, तिस पर रात दिन काम-काम, बस काम ही तो है इसे। कैसा निराधार और अभागा जीवन है इसका!

इसी पृथ्वी पर मनुष्य पशु से भी बदतर है और पशु इन्सान से भी भाग्यशाली, जैसे कि बड़े आदमियों के कुत्ते, जो मालिकों के साथ बैठकर मोटरों में भागे फिरते हैं।

... ...

उस दिन होली थी और घर-घर काम की अधिकता। कल्लो को कैसा त्योहार! आज सब दिन से अधिक काम; और सब दिन से अधिक गंदी और भूखी थी वह। दोपहर को बुढ़िया बड़ी सी टोकरी सिर पर धरे घर घर त्यौहारी इकट्ठी करती फिरती थी। बूढ़ी होने पर भी दो-चार गहने पहने थी, कपड़े भी साफ़ थे, आँखों में काजल लगा था, और पैरों में कलकतिया सलीपट भी पहने थी।

आँगन में बैठकर उसने त्यौहारी माँगी, और मैंने आठ कचौरी उसकी डलिया में डालते हुए कहा— 'बुढ़िया ! इस कल्लो के तन पर तू कभी ढंग का एक चिथड़ा भी नहीं डालती। रात-दिन खून पसीना एक करके यह तुझे महीने में पूरे ३०) रुपये कमा कर देती है और तू हम लोगों के दिये हुए कपड़े भी सहेज-सहेज कर रखती जाती है। इसे बेमेल और बेढंगे कपड़े पहनने को देती है।'

बुढ़िया ने आँखें मटकाते हुए और सिर खुजलाते हुए कहा— 'कपड़े कौन ऐसे देता है बीबी जी ! यह करती है तो क्या ? खाती भी तो है सेर पक्का ......। लाओ अब चलूँ, घर का सारा धंधा समेटने को पड़ा है। इसका तो मुझे रत्ती भर भी सुख नहीं। सारा दिन इधर ही खेल-कूद में गँवा देती है यह। क्या करूँ, किसी तरह इसे निभा रही हूँ, मेरी छाती पर मूँग दलने को छोड़ गई इसे ...।'

मैंने कहा— 'कौन छोड़ कर चली गई है इसे ?'

बोली— 'बहू......। उसकी बहिन की लड़की है यह, खुद चार महीने से पीहर में पड़ी है इसकी मौसी।'

मैंने बुढ़िया को सिर से पैर तक देखकर पूछा— 'तो इसके माँ-बाप नहीं हैं क्या ?'

बोली— 'मर गए सब ......। चाचा चाची हैं, सारी ज़मीन और घर के वही मालिक हैं अब तो। इसका एक भैया था और एक बहिन

इससे छोटी और थीं; सो कल खत आया है, वे दोनों भी माता में मर गए, माता निकली थी बड़ी... ।'

मैंने एक बार कल्लो की ओर देखा और एक बार इस निर्मम बुढ़िया की ओर। बुढ़िया सिर पर टोकरी धरे बाहर निकल गई थी और कल्लो पतीली की तली को ईंट से रगड़-रगड़ कर स्याही छुड़ाने का यत्न कर रही थी। जैसे जो होना था वह हो चुका और जो होता है वह होकर रहेगा, जीवन के क्रम में किसी बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता। पानी में पत्थर फेंकने से पल भर को लहरें उठ खड़ी होती हैं और फिर सब ज्यों का त्यों सम हो जाता है।

"मीरा की जात"

मिनिस्टर साहब ने ऊपर से लेकर नीचे तक के सारे बंगले की बत्तियाँ जलाकर भले प्रकार एक एक कमरे, बरामदे, गुसलखाने और ... और पाखानों का निरीक्षण कर डाला। किसमें कितने रोशनदान हैं, कहाँ कितनी खिड़कियाँ हैं, फ़र्नीचर बिलकुल नया और चमकदार है, हर एक कमरे में 'मार्बिल' का फ़र्श है, बरामदों में 'टाइल्स' जड़े हैं, और 'बाथरूम' तथा 'लैटरीन' में तो चीनी के ऐसे बढ़िया 'टाइल्स' लगे हैं कि चाहो तो मुँह देख लो। इतना ही नहीं, 'स्याह क़लम' के खूबसूरत पुष्प-पात्रों में जो सुगंधित पुष्प अपनी निराली छटा बखेर रहे हैं— वह मानो अभी अभी स्वर्ग-वाटिका से चुन चुन कर सजाए गए हैं। दरी, क़ालीनों और मखमल तथा 'सैटिन' की गद्दियों का तो कहना ही क्या ? पायदान तक इतने बढ़िया हैं कि उठा कर चूम लेने का मन होने लगता है। कॉर्निस पर सजे हुए सँगमरमर के खिलौने, शृङ्गार-मेज़, 'चैस्टर ड्रॉर', बिलकुल नए कँबोड, चमकती हुई श्वेत बर्फ़ सी सिलफ़चियाँ; ओह ! क्या क्या देखें— और समझें ? मानो सशरीर स्वर्ग में आ खड़े हुए हों ! 'सीलिंग फ़ैन' की तेज़ हवा जैसे आकाश में उड़ाए लिए जा रही हो ...।

"वाह, वाह !" कह कर मिनिस्टर साहब ने गृहिणी को पुकारा—"ज़रा सुनना जी..., देखना तुम्हारे लिए कौनसा 'सैट' ठीक रहेगा ? हाँ..., 'ड्रेसिंग टेबिल' तो कई हैं यहाँ, एक—दो—तीन—चार, लो चार हैं, तुम चाहो तो एक कपड़े बदलने के कमरे में रहने दो और दूसरी खाने के कमरे में रखवा दी जाए। दो तो हमें चाहिएँ— एक बाहर बरामदे में तो रखनी ही पड़ेगी, क्योंकि अंग्रेज़ी क़ायदा यही है, आने जाने वालों के लिए, दूसरी हमारे कमरे में रहेगी ही।"

"ना, अंगरेज़ी क़ायदा-वायदा कुछ नहीं, मुझे तो रसोई में ज़रूर रखनी है एक मेज़, उस पर मसाले वसाले रक्खे रहेंगे ...।" रम्पो ने पति की बात का विरोध करते हुए कहा।

पर मिनिस्टर साहब की समझ में कुछ ठीक नहीं बैठी यह बात। बोले— "चलो देखें रसोई में कोई आला-वाला है या नहीं। अलमारी तो होगी ही, उसी में मसाले वसाले रखवा लेना..., लेकिन हाँ— साग वग़ैरा रखने के लिये तो चौके में चाहिए ही मेज़। चाय वग़ैरा के बर्तन रखने के लिए भी ज़रूरत होगी। ख़ैर वहाँ से और आ जायेंगी मेज़ें, इस वक़्त जो चाहो रखवा लो ...।" कहते हुए वह जैसे ही कमरे से बाहर निकलने लगे कि सहसा बरामदे में रक्खी सिलफ़ची में ठोकर लगी— मिनिस्टर साहब ने उछल कर उसे उठा लिया— "ओह, अभी टूटी होती ...।" और फिर बाहर पड़ी कुर्सी पर सिलफ़ची को रखते हुए वह मोटर गराज़ तथा नौकरों के क्वार्टर

देखने चले गए। इस समय उन्हें न जाने क्यों, सहसा जेल जीवन के 'सी' क्लास की याद हो आई, और उसी समय साँवलदास ने निश्चय किया कि वह कौंसिल में इस आशय का एक प्रस्ताव अवश्य पास कराके छोड़ेंगे कि 'सी' क्लास में लोहे के तसलों के बजाय ऐसी ही सिलफ़चियाँ क़ैदियों को दी जाएँ, जैसी कि उनके बँगले में रक्खी गई हैं।"

रम्पो ने पति की विचार-धारा पर आघात करते हुए कहा—"लल्ला के लिये एक गाड़ी भी मँगा लेना। सभी बड़े आदमियों के बच्चे गाड़ी में घूमने जाते हैं, तुम भी लिख कर मँगा लो एक।"

"लिख कर? अरे लिखना क्या? वह तो ख़रीदनी पड़ेगी। तनख़्वाह मिलने दो, तब सोचेंगे गाड़ी की बात...।"—साहब ने उत्तर दिया।

[२]

साहब अँगड़ाई लेकर बिस्तर पर सीधे होकर बैठ गए। बासी मुँह में चिपचिपाहट के कारण होठों पर दाँतों के स्पर्श से तार से छूट रहे थे, और आँखों के कोओं की ढीड़ें भी साफ़ नहीं कर पाए थे कि रामप्यारी ने लोटा भर 'बैड टी' स्टूल पर ला धरी— "लो, जल्दी पी लो। कुछ ठंडी सी हो गई। फुल्लू ने लोटा पानी की बाल्टी में ही रख दिया। बेवकूफ़ ने समझा कि दूध की तरह चाय भी ठंडी करनी चाहिये।"

Tej Kishan Das

"अच्छा लाओ ..., कोई 'प्याला पिर्च' नहीं है क्या ?" साँवलदास ने पट्टी के पास खिसकते हुए कहा।

"कहां है ? एक बाहर था, वो भी फुल्ला ने तोड़ डाला......। अब और निकालते हुए यही डर लगता है कि एक २ करके यह सभी तोड़ डालेगा। ठहरो, गिलास ला रही हूँ।" कहती हुई रम्पो रसोई-घर की ओर दौड़ गई। साहब ने तुरन्त निश्चय किया— "पहली तनख्वाह मिलते ही सबसे पहले एक दो "टी सैट" ज़रूर ख़रीद के घर में डाल देंगे, फिर चाहे जो हो।"

अभी वह चाय सुटक ही रहे थे कि गृहिणी ने दो मिस्सी रोटियों पर ख़ूब सा घी चुपड़ कर और आलू के साग पर ख़ूब सी हरी मिर्च तथा प्याज़ कतर कर उनके सामने थाली ला धरी।

"सब कहते हैं कि ख़ाली चाय नुक़सान करती है, दो टुकड़े खाकर घूँट भरो।" रामप्यारी ने कहा।

"वाह, 'बैड टी' के साथ कुछ खाने का रिवाज थोड़े ही है ? तुम भी नई २ बातें करती रहती हो। लेकिन इतनी जल्दी रोटी तैयार कर ली तुमने, बस कमाल है।" साहब ने मुँह में ग्रास रखते हुए कहा।

"वाह, जल्दी क्या ? रात ही चूल्हे में दो उपले दबा दिए थे, बस, आग ज्यों की त्यों निकली, फुल्लू बेवक़ूफ़ चूल्हा ही सकेरे दे रहा था।

कोई पूछे उल्लू से कि राख न होती तो आग कैसे बनी रहती? और फिर राख का खर्च क्या थोड़ा है? बर्तन चाहे एक दफ़े को ना भी मंजें, पर लल्ला की छिच्छी उठाने को तो दिन भर चाहिए।" कहती हुई रामप्यारी पति के पास बैठ कर नाश्ता करने लगी। तभी टन २ करके बाहर घंटी बज उठी, चपरासी ने साहब को सलाम देकर कहा— "कोई साहब मिलने आए हैं, हुजूर से।"

"कौन साहब? कौन हैं, कहाँ से आए हैं, क्या काम है, सब बातें मालूम करनी चाहिए थीं तुम्हें?" साहब ने त्योरी चढ़ा कर चपरासी को घूरते हुए कहा।

"तो फिर यह सब पूछ आएँ उनसे?" चपरासी हाथ जोड़ कर बोला।

"और मैं क्या बक रहा हूँ इतनी देर से।" वह बोले। चपरासी काँपता हुआ बाहर जाने लगा। तभी साँवलदास ने उसे रोक कर पूछा— "साइकिल पर आया है या पैदल या 'कार' में?"

"साइकिल पर ही आए हैं सरकार! वह क्या अभी घंटी दी थी?"

"अच्छा ठहरो, कहना कि इस वक्त नहीं मिल सकते।" फिर पत्नी की ओर देख कर बोले— "कह देना नाश्ता कर रहे हैं......। ठीक है न?"

"और क्या?" रामप्यारी ने मुँह का ग्रास चबाते हुए कहा।

दो मिनिट बाद चपरासी वापस आकर बोला— "कहते हैं कि जेल में साथ रहे हैं हुजूर के, बहुत अच्छी तरह जानते हैं सरकार को, नाम कुछ ऐसा ही बताया·····, रामचरन कि रामपरसाद·····।"

"ओ, रामफल, ना ना, रामफल तो हमारे मामा का लड़का है। ठीक, रामपरसाद शर्मा होंगे, आए होंगे किसी नौकरी-चौकरी के चक्कर में, या कोई एजेंसी लेना चाहते होंगे। कह देना कि तबियत कुछ ख़राब है, मिल नहीं सकते, डाक्टरों ने मना कर दिया है।" साहब ने ठंडी सुत्र चाय का घूँट भरते हुए कहा।

चपरासी अब की बाहर से ही हाथ जोड़े आकर बोला— "हुजूर! अजीब आदमी है। कहता है कि जेल में मेरा कम्बल जो लिया था ओढ़ने को, सो ला दो, भला आप·······?"

"हाँ···आँ···, कहो कि फिर मिलेगा– घर भूल आए, या कहीं पड़ा होगा·····, देखेंगे·····, जाओ।" साँवलदास ने पलँग से उठते हुए कहा, "अब हम फराकत जा रहे हैं।"

गृहिणी ने उन्हें बीच ही में रोक कर कहा– "दे दूँ न, वही कम्बल होगा जिसमें तुम्हारा बिस्तर बँध कर आया है, कहते थे न कि यह हमारे जेल के साथी का है?"

"हां—हां, वही, वही तो है, दे दो, चाहे फिर दे देना। एक 'होल्डोल' और ख़रीदना है हमें।"

"फिर क्या ? दिए दे रही हूँ। बिचारे को ज़रूरत होगी।" कह कर वह आँगन की ओर चली गई। फुल्लू ने धूप में सोफ़ा डाल कर उसी पर कम्बल बिछा रक्खा था। रम्पो ने कम्बल उतार कर फेंकते हुए कहा— "ले जा दे दे उसे, बाहर खड़ा है कम्बलवाला।" और स्वयं सोफ़े पर लल्ला को लिटा कर उसके बदन में सरसों का तेल चुपड़ने लगी।

[३]

आज सभी के मन में बड़ा उल्लास था, सभी के हृदय में उमंगें भरी थीं, सदियों की ग़ुलामी से छुटकारा मिला था। मनुष्य ही क्या ? मानो पशु पत्ती तक स्वतंत्रता की स्वाँसें ले रहे थे। नगर की गली गली तिरंगे झण्डों से पाट दी गई थी, घर घर और दुकान दुकान पर दिये सजाए जा रहे थे। शहर के मुख्य मुख्य बाज़ारों में अनेक प्रकार की झाँकियाँ मनोरम दृश्यों में बनाई गई थीं। कहीं महात्मा गांधी की प्रार्थना का दृश्य था, तो किसी ने जवाहरलाल नेहरू को ही सुन्दर वाटिका के मध्य खड़ा कर रक्खा था। कहीं सरोजनी नायडू विराजमान थीं, तो कहीं सरदार पटेल और मौलाना आज़ाद ही खड़े मुस्करा रहे थे। बड़े बड़े झाड़-फ़ानूसों के बीच बाज़ारों में बिजली के पंखे और गैस के हंडे लटकाए गए थे। नगर की सजावट देख कर ऐसा आभास मिल रहा था मानो भूतल पर स्वर्ग की रचना की गई हो।

दूसरी ओर परेड के मदान का दृश्य भी अनुपम था, अपनी ही सरकार थी, अपने ही सिपाही, अपनी ही फ़ौजें, और अपने ही मिनिस्टर। प्रातःकाल से ही जन-समुदाय समुद्र की भाँति परेड के मैदान की ओर बढ़ा जा रहा था। तांगों, रिक्शाओं, कारों और गाड़ियों का ताँता लगा हुआ था। पैदल चलनेवाले यात्रियों का तो कहना ही क्या ! कोई गाती हुई टोली बढ़ी जा रही है, तो कोई महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू की जय के नारों से ही आकाश-मंडल को गुंजायमान करते जा रहे हैं। कहीं पर बच्चे खिलौनों पर मचल रहे हैं तो कोई मिठाई ख़रीदने में व्यस्त है। यह दशा थी लोगों की कि एक दूसरे से आगे बढ़ने का यत्न हर कोई कर रहा था। सभी एक दूसरे से होड़ लगाए मिनिस्टर साहब के दर्शनों को उमड़े जा रहे थे, और अपनी अपनी रुचि के अनुसार अनुमान लगा रहे थे कि कौन आएगा, किसके हाथों इस नगर का झण्डा फहराया जायेगा, कौन इस अपार सेना का अभिवादन स्वीकार करेगा। किसी ने कहा— अमुक पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी आएंगे यहाँ; किसी ने कहा— अमुक मिनिस्टर पधारेंगे आज तो······; इत्यादि चर्चाएँ नए नए नामों के साथ चल रहीं थीं। थोड़ी देर बाद मि० साँवलदास मिनिस्टर की चमकती हुई 'कार' मैदान का चक्कर लगाती हुई मंच के पास पहुँच गई। वह सपरिवार 'कार' से उतर कर, छड़ी घुमाते हुए, उँगलियों में सिगरेट दबाए, मंच की ओर बढ़े। सफ़ेद चूड़ीदार

पायजामे और कमीज़ पर काले पट्टू की जाकट उनके उपयुक्त ही जँच रही थी। लोगों की कल्पना पर सहसा तुषार सा पड़ गया। फिर भी आवश्यक कार्रवाई तो होनी ही थी। फ़ौज ने सलामी दी। पुलिस ने अभिवादन किया, पर जनता बिलकुल मौन और स्तब्ध खड़ी सोच रही थी— "शायद मुखारविन्द से ही निकले शब्दों से आत्मा को सुख मिले, मन को थोड़ा आश्वासन प्राप्त हो।"

मिनिस्टर साहब ने अपना काली और सफ़ेद पट्टीवाला 'शू' मंच पर पटक कर कहा— "मै आज इस स्वतंत्रता दिवस के उपलक्ष में आप लोगों के सामने आकर खड़ा हुआ हूँ। मैं आप लोगों के सामने कुछ कहता, पर दुर्भाग्य से अपना लिखित भाषण भूल आया। समय भी काफ़ी हो गया। आशा है कि आप लोग इस झंडे का मान रखते हुए मुझे क्षमा करेंगे······।" इत्यादि इत्यादि शब्दों से जनता को सन्तुष्ट करते हुए वह 'कार' में जा बैठे। और तभी गृहिणी ने अपनी मुर्शिदाबादी छींट की रेशमी साड़ी का पल्ला उलट कर गोद के बच्चे को दिखलाते हुए कहा— "देखा, कहते रहते हो कि आजकल का फ़ैशन बच्चों को नौकर और चपरासी के पास छोड़ कर जाने का है। लल्ला की आँखें रोते रोते कैसी सूजी पड़ी हैं, सारा काजल बह कर मुँह पर फैल गया। देना ज़रा रूमाल, मुँह पोंछ दूँ इसका।"

साहब ने जेब से रूमाल निकाल कर पत्नी के ऊपर डाल दिया। रामप्यारी ने बच्चे का मुँह पोंछ कर जैसे ही मुँह में भरी पान की पीक

बाहर थूकी, वैसे ही 'कार' की खिड़की और खिड़की के शीशे पर लाल लाल बिन्दु छलक पड़े। उसने जल्दी से पति की आँख बचा कर रूमाल से पीक के छींटे साफ़ कर दिए। फिर बोली— "तुम्हारा यह जूता तो ज़रा भी नहीं खिलता। देखते नहीं सब लोग कैसे तरह तरह के नए फ़ैशन के जूते पहरे रहते हैं .. ?"

मिनिस्टर साहब ने बहुत संक्षेप में उत्तर दिया— "यह ताऊ ने जेल में भेजा था, अपने हाथ से बना कर। चलो, 'सरकिट हाउस' में चल कर दूसरा बदल लेंगे।" पर इस समय उनका हृदय द्रुत वेग से धड़क रहा था क्या पता गर्मी के कारण या यह अतुल जन-समुदाय देख कर।

गृहिणी ने बालक को आँचल में लपेटते हुए कहा— "मीरा की जात बोली थी, लल्ला की आँखें आ गईं थीं तब। लाओ, जात देते ही चलें। फिर कौन आएगा इतनी दूर से .. ? आज फिर इसका माथा गरम सा हो रहा है, देई देवताओं को नाराज़ करना ठीक नहीं है ....।"

साँवलदास स्त्री की बात सुन कर सचेत से हो उठे— "जात ? जात देने जाओगी अब ? पर मुझे तो कल पहुँच जाना चाहिये वहाँ। फिर देखा जायगा जात-वात का ...।" कहकर उन्होंने बच्चे का माथा छू कर देखा— सचमुच ही तवा सा तप रहा था सिर। बोले— "धूप बड़ी तेज़ है, इसीलिए गरम हो रहा है बदन। चलो, सिविल सर्जन को बुला कर दिखला देंगे......, शाम तक ठीक हो जायगा।"

"ना, भला सिविल सर्जन क्या करेगा इसमें ? यह सब मीरा की करामात है। बस, अभी चल कर कढ़ाई करूँगी। मीठे पूड़े और अठावड़ी बना कर तैयार करनी हैं बस। उसमें देर ही कितनी लगेगी ? जब तक तुम दिसा फराकत से निबटोगे, तब तक सब तैयार हो जायेगा। चपरासी लल्ला को थामे रहेगा और फुल्लू मेरे साथ काम करा लेगा। बस एक रात मीरा के थान पर बस कर सीधे चले चलना।" रम्पो ने दृढ़ता से कहा।

"भला यह कैसे हो सकता है ? तुम भी न जाने कहाँ के दकियानूसी ख़याल रखती हो। नए फैशन में कौन मानता है इन ढकोसलों को ? देखतीं नहीं, कैसी कैसी औरतें रात दिन आँखों के सामने से गुज़रती रहती हैं। अभी अभी जिन्होंने वन्देमातरम् गाया था, बी० ए० पास हैं वह। सुना है कि बहुत काम करने वाली हैं, नगर कांग्रेस कमेटी की सदर रह चुकी हैं...। और वही क्या, सभी औरतें आजकल नए फ़ैशन की ऐसी ही होती हैं ...।" साँवलदास ने सिगरट का दम भरते हुए कहा।

रम्पो के तन बदन में आग सी लग गई— "तो फिर किसी ऐसी को ही पकड़ लाते, और अभी कौन मना करता है ? रात दिन सिर फकेरे सड़कों पर घूमती रहती हैं ....। अपना भाग सराहेंगी, बड़े आदमी ठहरे तुम ....। एक तो मर गई कुढ़ कुढ़ कर, मैं भी तुम्हारी आँखों में खटकती रहती हूँ ...।"

साहब की परेशानी का कोई वारापार न था— "अगली सीट पर बैठा ड्राइवर और चपरासी क्या कहता होगा ?" अजीब उलझन थी, किस प्रकार मनाएँ गृहिणी को ? बोले— "बस हो गईं नाराज़ ? चलो उतरो तो, फिर जैसा मुनासिब होगा किया जायगा। लाओ लल्ला को मैं थाम लूँ ?"

"सरकिट हाउस" के सुन्दर सुसज्जित कमरे में पहुँच कर रम्पो ने एक ओर 'सैंडिल' उतार कर फेंक दीं और एक ओर बच्चे के पोतड़े फेंक दिये। फिर बालक को पलंग पर डाल कर वह स्वयं भी बिस्तर पर पड़ कर सिसकने लगी। साँवलदास के हाथ पैर फूल गए "करें तो क्या करें, कैसे बेवक्त इसने जात देने की ठानी है ?" हाथ से जलती हुई सिगरेट फ़र्श पर छूट पड़ी, दरी में से धुँआ उठने लगा, कपड़गंध मस्तिष्क की शान्ति को चाटे जा रही थी। वह जल्दी जल्दी सिलगती हुई चिनगारियों को बुझाने लगे। बाहर लोगों की अपार भीड़ साहब को अपना अपना दुखड़ा सुनाने के लिये व्यग्र हो उठी थी। बच्चा अलग ही गला फाड़ फाड़ कर चीख़ रहा था। रामप्यारी ने बच्चे को घसीट कर छाती से लगाते हुए कहा— "आग लगे ऐसी नौकरी और फ़ैशन में ! ज़रा सा पढ़ लिख क्या गए, देई देवताओं को भी मानना छोड़ दिया ! मेरे फूल से बच्चे पर मीरा का कोप चढ़ता जा रहा है, और इन्हें कुछ सूझता ही नहीं ....।"

नया पेशा

[१]

सड़क के उस पार जो दूर तक फैला हुआ क़ब्रिस्तान है, उसी के इधरवाले किनारे पर उसकी झोंपड़ी पड़ी है। आसपास की आलीशान कोठियों के बीच वह छाती के फोड़े के समान— साक्षात् व्यथा की प्रतिमूर्ति सी कराहती रहती है। उसे झोंपड़ी के अतिरिक्त कहा भी क्या जाए, यद्यपि न वह झोंपड़ी है, और न मकान ही। तीन तरफ़ की दीवारें कुछ कच्ची और कुछ पक्की ईंटों और ईंटों के टुकड़ों से खड़ी करके, उन पर एक टूटी सी सिरकी डाल दी गई है, और सिरकी के ऊपर फटे पुराने टाट तथा टूटी चटाई के टुकड़े बेतरतीब फैला दिये गए हैं, न किवाड़ न चौखट, ऊँचाई मुश्किल से गज़ भर की ही होगी। जब वर्षा या आँधी का ज़ोर होता है,

तब उसमें रहने वाले छोटे बड़े सब प्राणी, बारी बारी से, गिरी हुई ईंटों को उठा २ कर जहाँ की तहाँ रखते रहते हैं। न लिपाई न पुताई, ईंटों को रोक रखने के लिए भी कोई किसी प्रकार का जमाव नहीं। देखनेवालों को आश्चर्य इस बात का है कि इसमें मनुष्य कहे जाने वाले प्राणी कैसे रहते होंगे जब कि जानवरों के रहने योग्य भी यह जगह नहीं दीखती। वर्षा और शीत की अनेक रातें परस्पर सिर जोड़े बैठे बैठे ही काट देते हैं यह सब। धूप रुक सकती है न पानी, पर आखिर उसमें भी लोग रहते ही हैं— एक नहीं, कई एक। उसका जो स्वामी है, उसके अलावा गृहस्वामिनी तथा चार या पाँच छोटे बड़े मिला कर बच्चे भी हैं। जगह होगी मुश्किल से दो खाट की। पर खाट कहाँ से आई– जो हाल ऊपर हैं, वही अन्दर दीखता है। एक ओर छः ईंटें रख कर चूल्हा बना लिया है, मिट्टी का कूंडा आटा गूँथने का काम चला देता है और पतीली के स्थान पर काली-किट्ट हाँडी और लकड़ी की डोई जो चमचे के स्थान पर रख छोड़ी है। दूसरे कोने में मैला सा मिट्टी का घड़ा धरा है और उसी के पास अनेक छिद्रोंवाला, ज़ङ्ग लगा हुआ टीन का डिब्बा पड़ा रहता है। जिसके जी में आया डिब्बा घड़े में डुबा कर मुँह से लगा लिया। आटा माँडने से और पानी पीने तक ही नहीं, बल्कि आबदस्त का काम तक यह डिब्बा चला देता है। यही हाल कपड़ों का भी है। फटे पुराने कम्बल और बोरी के टुकड़े

और गूदड़ा हुई रज़ाई का एक-आध टुकड़ा बिछाने ओढ़ने के काम आ जाता है, और सत्तर पैबन्द लगी हुई ओढ़नी तथा पजामा तन पर चिपका रहता है घरवाली के। बच्चों का क्या पूछना, वह तो क़रीब २ बारह मास नंगे ही घूमते रहते हैं। गृहस्वामी लंगर कसे रहता है, या कभी २ तहमद लपेट लेता है।

जैसी उन लोगों की दिनचर्या है, वैसा ही रहन सहन भी। प्रातः से सन्ध्या तक गृहस्वामी क़ब्रें खोदने की चिन्ता में व्यस्त रहता है, और घरवाली या तो चिथड़े गूदड़ों में से जूएँ और खटमल बीन बीन कर मारती रहती है, या फिर खाना पकाने के बाद सिर और बदन के कपड़ों में से जूएँ झाड़ती रहती है। यदि कोई 'चने ज़ोर गरम' वाला या बर्फ़वाला अथवा चाट पकौड़ीवाला आया तो उससे एक दो पैसे की चीज़ लेकर खा डाली और पत्ता छिपा कर दूर फेंक दिया। बाल-बच्चे दिन भर गिल्ली डंडा खेलते रहे, या पतंग उड़ाते फिरे। कभी मन हुआ तो चूल्हे में जलाने के लिये क़ब्रिस्तान में से थोड़ी लकड़ियाँ और घास-फूस बीन लाए, अन्यथा वह भी नहीं।

रात को जब सब इकट्ठे होते हैं, तो दिन भर का मौन भंग करने के लिए घोर अन्धकार की छाती को फाड़नेवाला चीत्कार करते रहते हैं। कभी पति पत्नी में झगड़ा, तो कभी बच्चों में लड़ाई,

और कभी कभी मारपीट तक की नौबत आ जाती है, और तब किसी की हिम्मत उनमें बीच-बचाव करने की नहीं होती, क्योंकि क़ब्रखुदा आपे से बाहर होकर चाकू छुरे से घायल कर देने की धमकी देने लगता है। और उसकी इसी हरकत से पुलिस भी सचेत होकर रहती है, कई बार उसे हवालात में भी रहना पड़ा है।

वैसे उस पर सभी की कृपा रहती है। प्रायः घरों के रसोइये और नौकर-चाकर चौके की बची-खुची चीज़ें उसकी झोंपड़ी में डाल आते हैं। दाल, साग, दो चार रोटी या चावल अक्सर वहां पहुंचते रहते हैं, यहाँ तक कि बड़े आदमियों के बच्चे अपने नौकरों की देखा-देखी दो चार पैसे भी उसे दे आते हैं, जिन्हें क़ब्रखुदा घरवाली और बच्चों से छिपा कर अंटी में खोंस कर चुपके से रख लेता है। अफ़ीम खाने और शराब पीने की भी लत है उसमें। इस तमाम मुहल्ले में हिन्दू लोग ही रहते हैं, किन्तु आसपास के और मुहल्लों से रोज़ाना दस पांच मुर्दे गढ़ने के लिए इस क़ब्रिस्तान में आते हैं। पहिले सुना था कि फ़ी क़ब्र एक रुपया मिलता था इसे, लेकिन अब महँगाई के कारण दो से एक दम तीन कर दिए गए हैं और कभी कभी पाँच से सात तक भी मिल जाते हैं। पहिले तमाम क़ब्रें यह खुद ही खोद लेता था पर अब बूढ़ा हो चला है कुछ इसलिए और कुछ दमे की बीमारी के कारण काम ज़्यादा होने पर एक दो मज़दूर भी लगा लेता है— फिर भी कम से कम पाँच छै रुपये रोज़ाना की आमदनी है इसे। और रहता है फ़कीरों की तरह।

कुछ इसकी गंदगी और कुछ कब्रिस्तान की भयानक हवा से कभी २ पड़ोसियों का मन बड़ा ऊब जाता है। इतनी लम्बी चौड़ी जगह में सैंकड़ों कोठियाँ और बाग़ होते। मगर अब रात दिन मृत्यु का ताण्डव रहता है इस मैदान में; तिस पर साक्षात् मृत्यु-सदृश यह क़ब्रखुदा रहता है हर समय। कोई क्षण ऐसा नहीं होता जब कि इसका मन किसी दूसरे काम में लगता हो। सड़क के किनारे बैठा मुर्दों की इंतज़ार करता रहता है। हम सब इसे देखते हैं और सोचने लगते हैं— "यह भी क्या कोई रोज़गार है, यह भी क्या कोई काम है?"

इतना सब करने पर भी तन पेट का उचित प्रबंध नहीं, इसकी जाति के लोग और बड़े बड़े नेता कानों पर हाथ धरे आराम से दिन गुज़ार रहे हैं और यह अभिशाप के समान यहाँ पड़ा हुआ दिन दिन पतन की ओर सरक रहा है। मरने जीने का कौन ठिकाना, किसी किसी दिन एक भी मुर्दा नहीं आता और तब उसका दंड भोगना पड़ता है हम सबको "आटा चाहिये, दाल दे दो जो ज़रा सी, और अब नमक के बिना हंडिया अलूनी पड़ी है" आदि २। लेकिन किया क्या जाए, पड़ोसियों को भी तो पाप का भागी बनना पड़ता ही है। किसी ने सच कहा है— "मनहूस बना दे भगवान, पर मनहूस का पड़ोसी न बनावे।"

[२]

उस दिन उसके छोटे लड़के ने आकर कहा— "अब्बा आए हैं जी!"

मैंने कहा— "क्या लाए हैं ?"

और तभी दरवाज़े से सटकर खीसें निकाल कर वह बोला— "दो दिन फ़ाक़े से कटे हैं बीबी जी ! एक भी मुर्दा नहीं आया, क्या जाने कमबख़्तों से मौत भी डरने लगी क्या ? वह डायन अलग मुझे खाए जा रही है, यहां तक कि चार मुर्गियाँ पाल रखी थीं, उनमें से भी दो भूखों मर गईं। उन्हें चारा तक नसीब न हो सका।"

मैंने कहा— "तो फिर मुर्दों के भरोसे पर ज़िन्दा रहना चाहते हो ? और कोई काम करो, जो पेट भरे। यह छः छः बच्चे और औरत पल्ले से बँधे पड़े हैं, जान नहीं खायेंगे तो क्या करेंगे ?"

बोला— "क्या काम करूँ सरकार ! खाटें बुनना जानता हूँ, मामूली सी बुन लेता हूँ, सो भी किसी के घर जाकर तो बुन नहीं सकता। न जाने कब कोई आ निकले, और क़ब्र खोदने की ज़रूरत पड़ जाए। हाँ, कोई तकिए में ही डाल जाए तो ठाली वख़्त में बुन सकता हूँ।"

मैंने कहा— "अच्छा देखो, यह दो पलंग और बान पड़े हैं, उठा कर ले जाओ। ठाली वख़्त में बुन लेना ...., बुनाई क्या लोगे ?"

बोला— "तीन रुपये दोनों के।"

"तीन रुपये ? अरे अभी पिछले महीने दो रुपये में बुनी जा रही थीं— तुमने तीन कर दिए ?"

हमारी महरी ने कहा— "रात दिन तो यहाँ कुछ न कुछ माँगने को खड़े रहते हो, और फिर भी ......?"

उसने अपने बदन की धूल झाड़ते हुए कहा— "बस रहने दे, चार आने में भी एक हँडिया नहीं पकती आज, जो पहिले चार पैसे में उतर आती थी ......। ला ज़रा सा तम्बाकू दे खाने का, मैं चलता हूँ, क्या पता कोई आ ही निकले— जगह अकेली देख कर लौट जाए।"

मैंने महरी को डाँट कर कहा— "क्यों झख झख कर रही है? जा वह दोनों पलँग और बान उठवा दे इसे।" फिर उससे कहा— "जल्दी बुन कर दे जाना।"

बोला— "परसों तक दे दूँगा, पर एक रुपया मिल जाता तो बच्चों के मुँह में दाना पड़ जाता, दो बाद में दे देना।"

मैंने एक रुपया उसके सामने डाल कर कहा— "अच्छा अब जाओ......।" वह चला गया और मैं सोचने लगी— "कितना घिनौना सा है यह आदमी, और कितनी कठोरता है इसके चेहरे पर। यह भी मनुष्य है और वह सब मरनेवाले भी मनुष्य ही तो थे कभी।"

[३]

प्रातःकाल बहुत देर तक क़ब्रिस्तान की ओर से रोने-पीटने की

आवाज़ आती रही और फिर सहसा सब कुछ शांत हो गया। हम लोगों ने समझा कि शायद किसी का प्रिय जन मर गया होगा, अभागी नारी क़ब्र पर फूल चढ़ाने आई होगी, या धूप जलाने, जैसा कि प्रायः देखा जाता रहा है, किन्तु थोड़ा दिन चढ़ने पर देखा कि क़ब्रखुदे की स्त्री बुरक़ा लपेटे दरवाज़े पर खड़ी रो रही है, साथ ही चारों-पाँचों बच्चे भी आँसू बहा रहे हैं और उनके पीछे पीछे दोनों मुर्गियाँ कुकड़ू कू...कुकड़ू कू... करती घूम रही हैं। वह कहती जाती है-- "हाय मियाँ, हाय मियाँ" और बच्चे "अब्बा, अब्बा" कह कर सिसक रहे हैं। पूछने पर मालूम हुआ कि क़ब्रखुदा रात सहसा मर गया, उसकी कफ़न-काठी के लिए एक पैसा भी इसके पास नहीं है। आस-पास के लोग भी इकट्ठे हो गए, और धीरे धीरे पन्द्रह बीस रुपये चन्दा इकट्ठा करके वह चली गई। हम लोग छत पर चढ़ कर देखने लगे, सामने ही तो थी उसकी झोंपड़ी। वह शायद अन्दर ही पड़ा था। घरवाली और बच्चे आते-जाते राहगीरों से भी पैसे माँगने लगे। इसी उलझन में दोपहर हो गया। मुहल्ले में मुर्दा पड़ा था, चूल्हों में आग कैसे जलती! न खाना न पीना। मन ऊबने लगा और हार कर थोड़ा बहुत मुँह में डालने की चिन्ता से मैंने ग्वाले के लड़के से कहा— "दिन भर यह उसकी लाश में कीड़े डाल कर भीख ही माँगती फिरेगी क्या सड़कों पर? इससे कह कि चार जनों को जोड़कर इसकी मिट्टी संगवावे।"

लड़का कौतूहल से कभी मेरी ओर और कभी सड़क पर घूमते हुए उस परिवार की ओर देखने लगा।

मैंने फिर उससे कहा— "कहता क्यों नहीं रे, इस औरत से? क़ब्रखुदा मर गया है रात, और अब दोपहर हो गया उसे सड़ते सड़ते........।"

अब की जैसे लड़का सचेत हो गया, बोला— "अभी कहता हूँ जी, पर रात को तो अपनी कचम··· विसके पास बैठ कर हुक्का पी गया था मैं, ईमान से। क्या हो गया था विसे······।" कहता हुआ वह क़ब्रखुदे की घरवाली के पास जाकर बोला— "तमाम दिन डाले रक्खेगी क्या इसे? जाकर बुला ला सामने मसजिद में से किसी को। वह क्या है, कचहरी के पास मसजिद। मैं तब तक यहां खड़ा हूँ···।" कहता हुआ वह क़ब्रखुदे की झोंपड़ी की ओर बढ़ गया, और तुरंत ही एक चीख़ मार कर दूर सड़क पर जा पड़ा।

आसपास के आदमी इकट्ठे हो गए— "क्या हो गया लड़के को, लाश देख कर डर गया······? पराया लड़का है, पेट में डर बैठ गया तो क्या होगा? आया था बिचारा ढोरी के साथ।" दूकान वाले अपनी अपनी दूकानों से कूद कूद कर उसकी तीमारदारी में लग गए। कोई मुँह पर पानी छिड़कने लगा, तो कोई दूध का कुल्हड़ लेकर उसे दूध पिलाने चला। लड़के का बुरा हाल था।

मैं भी ऊपर खड़ी खड़ी पछता रही थी— "क्यों मैंने इससे कहा ? न जाने क्या हो गया इसे, मुर्दा देख कर डर गया एक दम।" जी नहीं माना, और मैं नीचे उतर कर यू-डी-क्लोन की शीशी लेकर वहां पहुँची।

अनेक यत्न करने के बाद लड़के को कुछ होश हुआ। धीरे धीरे बोला— "अल्ला की कसम, ईमान से, यह तो भूत बन गया है। सब भागो··· भाग जाओ, नहीं तो पकड़ लेगा। मैंने खुद अपनी आँखों से झाँक कर देखा है, वह आँखें खोले पड़ा था और खाँसा भी······।"

लड़के की बात पर किसी को कैसे विश्वास होता? सब एक दूसरे के मुँह की ओर देखने लगे— "यह पागल हो गया है क्या?" दो एक ने साहस करके क़ब्रखुदे की झोंपड़ी में झाँक कर कहा— "अरे हाँ, यह देखो, यह तो जिन्दा हो गया भइया! उठने वाला है अब, अँगड़ाई ले रहा है·········।"

अब क्या था, तमाम मुहल्ले में चक्की सी चल गई— "क़ब्रखुदा मर कर ज़िन्दा हो गया ··· भगवान की माया है।" दो चार जने, जो अनुभव में सबसे बढ़ा चढ़ा मान बैठे थे अपने को, बोले— "रहने भी दो बस··· बहुत देखा है ज़माना हमने भी भइया! किसी को मर कर ज़िन्दा होते नहीं देखा, घर के घर उजड़ गए······।"

बूढ़े पनवाड़ी ने बीड़ी का धुँआ उड़ाते हुए कहा— "और क्या? रात को ज़्यादा पी गया होगा····· वह समझी कि बस······।"

इतने ही में क़ब्रखुदे को दमे की खाँसी उठ आई। खाँसता खाँसता दम तोड़ता हुआ झोंपड़ी के बाहर घिसट आया और लगा घरवाली को बुलाने की कोशिश करने— "अरी कम्बख्त हमीदा की मां······ आँ··· आँ···, कहां मर गई जाकर ?"

दूधवाले ने भट्ठी में कोयले झोंकते हुए कहा— "आज तो खूब छनेगी मियां! सुबह से पचासों रुपया इकट्ठा कर चुकी है तेरी कफ़न-काठी के लिए, वह जा रही है अब कचहरी की तरफ़, मय बाल बच्चों के ··। यह नया पेशा खूब निकाला दोस्त!" क़ब्रखुदे ने अपना मोटा सा सोटा खींच लिया, शायद घर वाली को बुलाने, उधर ही जाने के लिए।

त्यागी जी

[१]

महाशय त्यागी जी जब तीसरी बार जेल से लौटे तो वह स्वयं भी अपने से कोई कम प्रभावित नहीं दीखते थे। फिर दूसरे लोगों की तो बात ही अलग थी, जैसे चारों धाम की यात्रा पूरी करके लौटे हैं वह, इस बार ऐसी श्रद्धा थी लोगों में। इसका प्रभाव उनके परिवार पर न पड़ा हो, ऐसी भी कोई बात नहीं थी। घर का बच्चा-बच्चा अपने आप को बहुत बड़े आदमियों की श्रेणी में गिन बैठा था, जिनमें मान, बड़ाई और विद्वत्ता— सभी कुछ विद्यमान रहता है और जो अन्य लोगों से सीधे मुँह बात करना भी पसन्द नहीं करते।

इन खूबियों के अलावा आकाश से टूटे तारे के समान भगवान् की ओर से उन्हें वर-स्वरूप एम० एल० ए० की पदवी भी प्राप्त हो गयी, जो उनके कुल और जाति के लिये अभूतपूर्व बात थी। इसी उपलक्ष में उस दिन उनके यहाँ कथा थी। न जाने कब कब के कूड़े-कचरे का ढेर गली के मोड़ पर लगा दिया गया था— घर की सफ़ाई जो हुई थी। अपने को साहित्यिक समझने के नाते, आये दिन उनके व्याख्यानों में एक विशेषता यह भी रहती थी, कि कोरे कांग्रेस के कार्य-क्रम की ही चर्चा नहीं, बल्कि कांग्रेस और सत्याग्रह के महत्व से शुरू होकर, अनुशासन, नागरिकता तथा शिष्टाचार जैसे गम्भीर विषय भी उनके भाषण में सोने में सुगन्ध की भाँति रहते थे, जिन्हें जनता गद्गद् कण्ठ से सुनती और फिर मुक्त-कण्ठ से उनकी प्रशंसा करने से भी नहीं चूकती थी।

इस बार वह जेल से दो एक पुस्तकें भी लिख लाये थे, जिन्हें वह अपने इष्ट मित्रों को सुनाने के लिये सदा तत्पर रहते थे। आये दिन गृहिणी से इसी लिये झगड़ा ठना रहता था कि वह उनकी राय में उनके गम्भीर सूत्रों को समझ नहीं पाती, केवल आँखें फाड़े और मुँह फैलाये कुछ समझने की चेष्टा ज़रूर करती, और त्यागी जी माथा ठोंक कर रह जाते, क्योंकि वह तो बी० ए० पास थे।

इस गृह-कलह का एक कारण और भी था। पुस्तक में लिखे सूत्रों का प्रयोग घर में नहीं चल सकता था— "यहाँ बादाम का छिलका

किसने डाल दिया, पैर में चुभ गया तो खून की नदियाँ बह चलेंगी, और देखो जूठे बर्तनों पर जो मक्खियाँ भिनभिना रही हैं, इनसे बीमारी फैलती है; कपड़े साबुन लगा कर थोड़ी देर रख देने चाहिये; चीनी को हमेशा ढाँक कर रखो...।" आदि आदि क्रियाओं को वह कई बार बता चुके थे, स्वयं भी इन बातों पर अमल करने की चेष्टा करते थे, और इसी लिये जेल में जो बक्स साथ था, उसमें का साबुन, चीनी, चाय आदि ज्यों का त्यों ठीक तरह से रखा था। ज़रूरत पड़ने पर वह स्वयं आवश्यकतानुसार निकाल देते थे।

बच्चे भी छोटे बड़े मिला कर आठ थे कुल, जिनकी शिक्षा और सभ्यता का ध्यान उन्हें हर समय रहता ही था। उनके खयाल में उन जैसे बच्चे तो आस-पास थे नहीं, किसी के विलायत में भले ही उतने सुसंस्कृत बच्चे होते हों। उनका विचार था कि बीचवाला लड़का तो अवश्य ही मनोविज्ञान का प्रकाण्ड पण्डित बनेगा, बाक़ी कोई इंजिनियर, कोई कवि और कोई चित्रकार तथा लेखक भी बन सकता है। यही कल्पना लड़कियों के बारे में भी थी। उन्हें किसी के घर का रहन-सहन, खान-पान कुछ भी पसन्द नहीं आता था। चार मित्रों में बैठ कर वह गृहिणी के एक एक कार्य की प्रशंसा करते और चाय आदि बनाने के तरीक़े भी बतलाने की कोशिश करते थे। यह तो सभी जानते हैं कि अपनी बुद्धि और दूसरे के धन का कोई वारापार नहीं होता।

[२]

साग की पतीली चूल्हे से उतार कर गृहिणी ने नीचे अङ्गारों पर टिका दी और कढ़ाई चढ़ा कर वह हल्की भारी सभी तरह की लोइयाँ जल्दी जल्दी बनाने लगी। सामने बैठा भीमा पिट्ठी पीस रहा था, केवल एक लंगोटी पहने, आयु होगी कोई बारह वर्ष की, रंग काला और सिर के बाल बढ़े हुए, जैसे किसी साधू का चेला हो। आज वह भी बहुत खुश था, रोज़ाना एजेन्सी के चावलों की खिचड़ी खाते खाते उसका भी मन ऊब उठा था— महीने में एक दो बार कभी एक-आध रोटी सामने आ जाती थी। क्या करें आधा पाव रोज़ मिलता है, इसमें कोई क्या खाये और क्या खिलाए? इधर उधर से जो नाज आता था, उससे तो घर के लोगों का भी पूरा नहीं पड़ता, फिर बेहद महंगा भी पड़ता था। भीमा को कोई कहाँ से खिलाए? लेकिन आज उसने खूब जी तोड़ कर काम किया है— घर में पूजा है, कई एक बामन न्यौते गए हैं— तो क्या भीमा को आज भी खिचड़ी मिलेगी? सवेरे चार बजे से उठ कर घर की सफ़ाई धुलाई के अलावा सबके कपड़े धोये हैं, साबुन लगा लगा कर। बर्तन सब दिन से साफ़ मांजे हैं। न जाने कितना पानी नीचे से ढो ढो कर लाया है वह। साग सब्ज़ी सब उसी ने काटी है। यही सब हिसाब लगाते लगाते उसने सोचा— चाहे जो भी हो आठ पूरी कचौरी से ज़्यादा वह हरगिज़ नहीं खा सकता, कम चाहे भले ही खा ले, क्योंकि सोंठ और दही बड़े

जो साथ होंगे और हलुआ— वह तो उसने बरसों से नहीं खाया···। उसकी विचारधारा का अन्त नहीं था। तभी बहू जी ने उसके सिर पर चपत रखते हुए कहा— "ऊंघ रहा है या दाल पीस रहा है ? फिर बाबूजी कहीं काम में फंस गये तो बस तू समझता है कि मत्र तेरी तरह ठाली हैं।" और तुरन्त भीमा के हाथ मशीन बन गए। भरसक शक्ति से वह दाल पीसने लगा। "भीमा ! अरे भीमा ·· मर गया क्या कहीं जाकर ·· ?" बाहर से त्यागी जी ने उसे पुकारा। वह चौकन्ना सा होकर पल भर में उनके सामने आ खड़ा हुआ। त्यागी जी ने पहले तो सिर से पैर तक उसे घूर कर देखा, फिर कहा— "तुम लोगों के ऊपर जी चाहे जितना लिखो और बोलो, पर रहोगे बिल्कुल गँवार ही, देख तो···।" कह कर उन्होंने हुक्के पर से चिलम उतार कर वहीं बरामदे में उलट दी और उसे दिखाते हुए कहा— "बता दिखाऊँ उठ कर या दीखा तुझे ? इसमें 'चुगल' डाला तूने··· ? बीस बार तुझे समझाया होगा कि 'चुगल' डाल कर तम्बाखू की टिकिया जमाया कर, पर तेरी बुद्धि में खाक नहीं आया···। और इधर हम हैं जो किसान मज़दूरों की तरफ़दारी करते करते मरे जा रहे हैं।" भीमा ने सिर खुजलाते खुजलाते धीरे से कहा— "डाला तो था जी 'चुगल', पर कोयले का डाला था, जल गया होगा।" त्यागी जी का क्रोध सीमा को पार कर चुका था, वह न जाने कब से अकेले बैठे देश की दशा पर गौर कर रहे थे। कपड़े की समस्या, खाने की समस्या, बेकारी की समस्या, और न जाने कितनी

समस्याएँ उनके सामने थीं। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि वह जान लड़ा देंगे, कोई भूखा नंगा नहीं मर सकता। और इधर बीच ही में इस कम्बख़्त ने विघ्न डाल दिया। घण्टों कश खींचते खींचते हो गये, पर तम्बाखू हो तो धुआँ निकले, वह तो न जाने कब का जल कर ख़ाक हो चुका। फिर भीमा के सिर पर चिलम ठठते हुए उन्होंने कहा— "जा, जल्दी भर कर ला, और देख बहू जी को भेज ज़रा...। और 'चुगल' मिट्टी या ईंट की कंकड़ का डालियो, कोयले का नहीं।" भीमा हिलता काँपता चिलम लेकर चला गया और गृहिणी ने तुरंत आकर पूछा— "क्या है ?"

त्यागी जी ने उन्हें और भी पास बुला कर कहा— "तुम यह सब क्या पूजा-बूजा का बखेड़ा लिये बैठी हो, और मुझे मरने तक की फ़ुरसत नहीं है। कल पं० जवाहरलाल नेहरू आने वाले हैं— सुबह झण्डे की प्रार्थना है और...और फिर चाय पार्टी.... और हाँ... फिर ज़िले का दौरा...।"

मनसा देवी ने ऊब कर कहा– "तो कहो न क्या कहते थे करने को ?"

"यही कहता था कि तुमने यह सब बखेड़ा बाँधा है, और मुझे कल बिलकुल फ़ुर्सत नहीं होगी ...।"

"लेकिन कथा तो आज है, न कि कल ? दो घण्टे में सारा काम ख़तम हुआ जाता है। ब्राह्मणों को न होगा पत्तल दे देंगे... जो बात मुँह से निकाल बैठे उसे तो पूरा करना चाहिये...।"

त्यागी जी ने इधर से उधर टहलना शुरू कर दिया था। सहसा रुक गये— जैसे कि इन्जन में ब्रेक लग गया हो।

जीवन में आज पहली बार ही उन्होंने अपनी स्त्री को इतनी बुद्धिमती समझ कर मन ही मन उसे प्रणाम किया। उन्हें यह याद ही न रहा था कि कथा आज है या कल। गृहिणी की ओर मुग्ध भाव से देखते हुए बोले— "तुमने सुना होगा कि कांग्रेसी मिनिस्ट्री बननेवाली है, और कल वहाँ आ रहे हैं पण्डित नेहरू, समझीं?"

मनसा ने अन्यमनस्क भाव से कहा— "हाँ, बड़ी दुर्दशा है देश की। अच्छा ही हो किन्हीं भले हाथों में राज सौंपा जाये तो– अपना मारेगा तो भी छाँह में ही डालेगा...। अच्छा घी जल रहा है कढ़ाई में।" कहती हुई वह घर में चली गयी। त्यागी जी बहुत देर तक उधर ही देखते रहे जिधर से गृहिणी गई थी। त्यागी जी मन ही मन सोचते जाते थे— "देखो नेहरू जी का क्या रुख़ रहता है, और उनसे भेंट होने का भी अवसर मिलता है या नहीं?"

थोड़ी देर बाद बड़ी लड़की ने आकर कहा— "बाबूजी, आपसे बहुत से लोग मिलने आए हैं।"

"कौन हैं वह ..?" त्यागी जी ने उत्तेजित स्वर से पूछा।

"कोई अपने को कपड़ेवाले कहते हैं, कोई बूरावाले और कुछ अनाजवाले भी हैं...।" लड़की ने एक पैर से खड़े होकर घूमने का अभ्यास करते हुए कहा।

"जाओ, कह दो, हैं नहीं घर में ...। कल पण्डित जी आने वाले हैं, इसी इन्तज़ाम में बाहर गये हुए हैं।"

"पर मैंने तो कह दिया है ...।"

"तुम्हें तो ज़रा भी अक़्ल नहीं, पहले मुझसे मालूम कर लेना था...। जाओ ...।"

लड़की ओठों पर जीभ फिराती हुई भाग गयी, और बाहर खड़े लोग आपस में कहने लगे— "चलो भई! त्यागी जी बड़े आदमी हो गये हैं अब, किसी से बात करना पसन्द नहीं करते।

ठीक आठ बजे झण्डे की प्रार्थना होने वाली थी। त्यागी जी प्रातःकाल चार बजे से ही उठ बैठे, गृहिणी को भी जगा दिया गया, बच्चे भी तैयार होने लगे और भीमा को भी अनेक आदेश देकर वे प्रार्थना में जाने की बात सोचने लगे— 'आठ बजे प्रार्थना होगी— वहाँ से लौटते लौटते दस बज जाना मामूली बात है, फिर सम्भव है कि उन्हें कुछ बोलना भी पड़ जाये। मज़दूरों के ऊपर बोलना ठीक होगा क्योंकि जगह जगह मज़दूरों के झगड़ों की सुनाई आती रहती है। रोज़ाना अख़बारों में हड़ताल के समाचार छपते रहते हैं। पर इन बिचारों की बड़ी दुर्दशा है। उनके दिल में इनके प्रति बड़ा दर्द है। लोग उन्हें इसी लिये कम्यूनिस्ट भी कह डालते हैं, और हैं वह पक्के कांग्रेसी। कांग्रेस क्या किसान मज़दूरों की हामी नहीं है? लोगों का क्या है— जो

मुँह में आया बक डाला। ज़रा 'हरिजन सेवक' तो पढ़ कर देखें तब पता लगे कि असलियत क्या है। पर कितने लोग पढ़ते होंगे उसे? यह लोगों की बड़ी ग़लती है...।" यही सब सोचते सोचते उनकी निगाह घड़ी पर जा टिकी। कलाई को कान से लगा कर देखा। ठीक सात बजे थे। जल्दी जल्दी सबको आगे निकाला दरवाज़े से। गृहिणी ने आइने के सामने खड़े होकर फिर देखा— हरे रंग की छपाई की खादी की साड़ी परसों ही आश्रम से मँगाई थी, आज पहिली बार पहनी है। त्यागी जी जल्दी कर रहे थे— "चलो देर हो जायगी, मुझे वहाँ का सब प्रबन्ध देखना है...।"

गृहिणी ने कहा— "वहाँ तो बहुतेरे देखने करने वाले हैं, प्रार्थना तो हर महीने होती है— सब ठीक ही रहता है। ज़रा अलमारी का ताला और लगा दूँ।" कह कर वह फिर घर में चली गयी। बच्चे जलूस की शकल में त्यागी जी के पीछे खड़े थे। कई एक नंगे पैर और जूते हाथों में। अजीब ढंग दीख रहा था। त्यागी जी ने एक बार घूम कर देखा, बोले— "यह क्या बेहूदगी है— जूते पहनो।" तो किसी ने पैर के अँगूठे का छाला दिखलाया, किसी ने उँगली का। "जूता काटता है।" कह कर बच्चे एक दूसरे का मुँह देखने लगे।

बड़ी लड़की ने रूमाल से चप्पलों को झाड़ते हुए कहा— "बस चप्पल ठीक रहती हैं।"

त्यागी जी की बेचैनी बढ़ती जाती थी। इस बार कुछ ऊँचे स्वर में कहा— "चलती हो या हम जायें... ?"

"आई ज़रा भीमा को खाना दे आऊँ।" उधर से आवाज़ आई और फिर बाहर आकर गृहिणी ने चलते चलते उन्हें बतलाया कि "वहाँ से लौटने में देर हो सकती है। उनके लिये तो उन्होंने ताज़ी पूरियाँ उतार कर रख दी हैं। कुछ कल का खाना रखा ही है, जाड़ों में खराब थोड़े ही होता है ? भीमा के लिये उसकी रात की बची खिचड़ी रखी थी, वह उसे दे आई हूँ... काम धंधे से निबट कर खा लेगा बेचारा। कब तक भूखा पड़ा रहता...?"

त्यागी जी ने अपने कुरते की आस्तीन ठीक करते हुए कहा — "हाँ, यह तुमने ठीक किया, देर हो सकती है, वहाँ से आकर खाना बनाने में बड़ी उलझन रहती। मुझे फिर बहुत काम करना है, शायद पण्डित जी के साथ गाँवों में दौरे पर जाना पड़े, देखो भगवान के हाथ है, न जाने कब लौटना हो...?"

पत्नी ने शंकित भाव से पति की ओर देखते हुए कहा— "मन न हो तो न जाना, शाम तक तो लौट ही आओगे, भगवान सब भला करेंगे।" और त्यागी जी ने हाथ की छड़ी को ज़ोर से सड़क पर पटकते हुए मन ही मन कहा— "ओः कितनी नासमझ है यह ?"

कहानी का विषय

[१]

भूषण भैया जब अपने इतने बड़े पद को त्याग कर सहसा जेलखाने में जा पड़े तब हम सब समाचार-पत्रों में इस समाचार को पढ़ कर स्तब्ध से रह गए। साहित्य-क्षेत्र से एक दम राजनीति में कूद पड़े — यह जीवन से पलायन नहीं तो और क्या है ?

जब से होश सँभाला, इस इतने बड़े संसार में अपने को अकेला ही पाया उन्होंने। विद्यार्थी जीवन समाप्त भी न कर पाये थे कि अपना कहनेवाला कोई भी शेष नहीं बचा। जिन्हें अपना समझने की कोशिश की, वह किनारा काटते रहे, और जिनसे बचना चाहा, वह हमेशा परेशान करते रहे। यहाँ तक कि विवाह भी प्रतिकूल ही रहा, और व्यथा का एक अंश बन कर केवल एक दुःखद स्मृति ही रह गया। इसके पश्चात् न जाने कितनी रूपवती और गुणवती कन्याओं ने आत्म-समर्पण करना चाहा उन्हें, पर भूषण बाबू ने दूसरे विवाह की कल्पना को भी जैसे मन में कभी स्थान देना अनुचित और दुःखद ही समझा।

जीवन की अनेक त्रुटियों को और असंख्य अभावों को वह उपन्यास, कहानियाँ, लेख और कवितायें लिख लिख कर पूरा करने की चेष्टा में लग गए। अपने को निरन्तर व्यस्त रखना— हर समय लिखते-पढ़ते रहना ही मानो उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य बन गया था। उन्हें जैसे क्षण भर का भी अवकाश नहीं था। जो शेष समय मिलता वह खाने पीने और सोने में निकल जाता। संसार उनसे विमुख था, और वह संसार से; और जब इससे भी असंतोष रहा, तभी शायद उन्होंने जेल के सीखचों में बन्द पड़े रहना स्वीकार किया था।

उस दिन पूरे नौ मास बाद, वह सहसा मेरे सामने आकर बैठ गए। श्वेत खद्दरधारी, जैसे सदा से यह इसी प्रकार बैठे आ रहे हों। मैंने पूछा— "कब छूटे? मुझे तो कोई खबर भी न दी, न जाने के पहिले और न छूटने के बाद?"

कहने लगे— "खबर देने में प्रतिवाद का भय था, इसीलिए जाते समय पत्र लिखना उचित नहीं समझा, और छूटने के बाद सशरीर उपस्थित हूँ ......।"

उनके इस स्पष्ट उत्तर ने मुझे अवाक् कर दिया। बहुत यत्न करने पर भी मैं उनके आन्तरिक भाव को समझ न सकी। हाँ, इतना आभास अवश्य पा सकी कि उस हृदय में, उन आँखों में और उनकी घुटी हुई मुसकान में बड़ी व्यथा दबी पड़ी है, जिसका निवारण इस जीवन में

तो होने का नहीं। मुझे चुप देख कर ही सम्भवतः उन्होंने कहा— "चाय पीना चाहता था। जेल में दो बातों की बुरी आदत पड़ गई है— चाय पीना और सिगरेट फूँकते रहना। इन दोनों से कुछ आश्वासन-सा मिल जाता है, थोड़ी देर के लिए।"

"सिगरेट भी पीनी शुरू कर दी ?" मैंने कहा।

"हाँ !" उन्होंने सरल भाव से उत्तर दे दिया।

"यह तो बड़ी बुरी लत है।" मैंने फिर कहा।

"हाँ ... !" कह कर उन्होंने कलाई में बँधी घड़ी की ओर देखा, फिर कहा— "मुझे जाना है जल्दी ही. आज एक ज़रूरी मीटिंग है, फिर किसी समय आऊँगा।"

मेरा मन खिन्न सा हो रहा था, कहा— "इतनी जल्दी थी तो फिर ही आते, मुश्किल से दस मिनट हुए होंगे आये। खाना किसी के हाथ वहीं भेज दूँ, या फिर आकर खाओगे ?"

बोले— "तुम तो नाराज़ हो मुझसे ! तुम्हें क्या बताऊँ, यदि समय मिले तो मन करता है, हर समय ऐसा ही बैठा रहूँ... ! खाने की चिन्ता न करो, एक नौकर है, वह खूब बना लेता है।"

मैंने प्रसंग बदलते हुए कहा— "लोग-बाग बहुत तंग करते हैं। तुम्हें विवाह कर लेना चाहिए। अब सब मुझे बाध्य करते हैं कि तुम्हें

समझाऊँ मैं। यह कौन जानता है कि मेरी बातों को हँसी में उड़ा देते हो ? नहीं तो घर-द्वार उजाड़ कर जेल जा पड़ते क्या ?"

बोले— "घर-द्वार तो था ही कहाँ ? जो था वह उजड़ा नहीं है। मकान, कोठी, बाग़ सब ज्यों का त्यों खड़ा है अभी तो ... !"

आगे मेरा मन उनसे बहस करने के लिए तैयार नहीं हुआ और चाय पिला कर उन्हें विदा कर दिया। मुझे ऐसा लगा मानो भूषण के जीवन का खंड-खंड बिखरा पड़ा है और उन्हें न तो कोई सहेज कर रख ही सकता है, और न उधर से आँखें ही मूँद सकता है। उनके लिए वह और अभिशाप जैसे एक ही तल पर समान रूप से रहते हैं। सप्ताह भर बाद सुना फिर जेल चले गए।

[२]

पूरे पाँच वर्ष का लम्बा समय न जाने कैसे बीत गया। इतने बीच में बहुत-सी घटनायें ऐसी भी हो गईं, जिनकी कभी कल्पना भी नहीं की थी। अब की बार जो आन्दोलन शुरू हुआ उसमें कितने ही बे घरबार हुए और कितने ही लोगों को अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ा। माताओं के पुत्र और सुहागिनियों के पति उनसे सदा के लिए बिछुड़ गए। भूषण भैया भी अनेक कष्टों को झेल कर अब की तीसरी बार जेल से छूट कर आए थे। सुना उन्होंने विवाह भी कर लिया है। दो-एक बच्चे भी हैं, और अब कुछ दिन यहीं रहेंगे।

हम सबकी बड़ी इच्छा थी उनसे मिलने की। बहुत दिन से कोई समाचार भी नहीं मिला था। मेरा मन बड़ा दुःखी हुआ — यह सोच कर कि इस बार वह मिलने भी नहीं आये। पर इससे क्या ? अवकाश न मिला होगा, यही सोच कर संतोष कर लिया। एक दिन हम सब लोग उनसे भेंट करने पहुँचे। बाहर लॉन पर बैठा माली घास छील रहा था, मैंने उससे पूछा— "बाबूजी हैं रे, घर में ?"

बोला — "हाँ, हैं। कुछ लिख रहे हैं, इधर दफ्तरवाले कमरे में बैठे हैं।"

लो बस, अच्छे समय आये ! अब न जाने कितनी देर बैठना पड़े ? ऊपर से घटा घिर रही है, घर भी पहुँचना है जल्दी, और तांगेवाला अलग शोर मचायेगा। यह सब सोच कर मैंने और सब लोगों से कहा— "आप सब यहाँ बैठें, मैं देख आऊँ। उनके लिखने पढ़ने में तो बाधा नहीं डाली जा सकती। न होगा, फिर आएँगे। क्या पता क्या लिख रहे हैं— कोई कहानी, उपन्यास, लेख या कविता ? ऐसे उच्च कोटि के लेखक के बारे में कोई क्या समझ सकता है कि कब उनके मन में कैसे भाव उदित हो उठें ?"

धीरे-धीरे पैर रखते हुए मैंने चौखट पर खड़े होकर झाँका— वह बिलकुल मूर्तिवत बैठे कुछ सोच रहे थे। उँगलियों में 'पेन' दबाये, मेज़ पर कोहनी टेके और हाथ पर माथा धरे।

मैं वहीं ठिठक कर खड़ी की खड़ी रह गई। सोचने लगी— न जाने किस गम्भीर विषय को लिये बैठे हैं ! मालूम होता था जैसे कोई कहानी लिख रहे हों। मैं और भी पाँच-सात मिनट खड़ी रही। पर वह इतने व्यस्त थे कि हिले तक नहीं, फिर वहाँ तक पहुँचने का साहस कैसे हो सकता था ? हार कर यही निश्चय किया कि फिर देखा जायगा, अब तो घर लौटना ही चाहिये। यह तो आज बिना कहानी पूरी किए उठेंगे ही नहीं, और फिर निराश होकर मैं वापस चली आई। तभी आँगन में कुछ चहल-पहल सी सुन पड़ी। किसी स्त्री-कण्ठ ने नासिका तक स्वर को खींच कर शायद बच्चों से कहा— "तुम दोनों ने तो नाकों दम कर रक्खा है। और मत खाओ बस, पेट में दर्द होगा, बाबूजी नाराज़ होंगे।"

मुझे सहसा ध्यान आया— "अरे, भूषण भैया का तो विवाह हो गया था न ?" श्रीमती जी से बिना भेंट किये लौट आना अक्षम्य अपराध तो होगा ही— वैसे भी शिष्टाचार के विरुद्ध है। उनसे खाली हाथ प्रथम भेंट करने में मुझे बड़ी ही लज्जा का अनुभव हुआ। बच्चों के हाथ में दो-दो रुपये ही थमाये जा सकते थे, पर उनसे भेंट करने के लिये तो कोई साड़ी, गहना या बढ़िया-सा श्रृङ्गार का 'सेट' ही देना चाहिए, जिसका इस समय कोई प्रबन्ध नहीं था। यह सब सोच कर भी चुप-चाप लौट जाना ही उचित जान पड़ा। चलते-चलते एक बार पर्दे की जाली में से मैंने फिर झाँक कर भूषण भैया की ओर देखा, वह

पूर्ववत् तल्लीन थे सोचने में। अब की बार कल्पना कुछ और आगे बढ़ी— "शायद कहानी नहीं, उपन्यास के किसी परिच्छेद में उलझ रहे हैं यह।" प्रायः एक घण्टा हमें आये हुए हो गया, तब से बराबर ही कुछ सोच रहे हैं। कविता, कहानी, लेख अथवा निबन्ध इन सब में इतनी उलझन नहीं हो सकती, वह तो क्षणिक उद्गार होते हैं। तुरन्त ही लिखने न बैठ जाओ तो सब मिट्टी में मिल जाए, और यह बराबर सोच ही रहे हैं, बस! अवश्य ही किसी गम्भीर विषय में उलझ रहे हैं। उनकी योग्यता और विद्वत्ता का ध्यान आते ही सहसा श्रीमती जी के दर्शनों की इच्छा और भी प्रबल हो उठी। न जाने कितनी रूपवती और गुणवती होंगी वह, क्योंकि इन्हें कोई साधारण स्त्री कैसे पसन्द आ सकती है! इनके उपन्यासों की नायिकाएँ, इनकी कहानियों की पात्रियाँ सब एक से एक बढ़ कर होती हैं, तभी तो विवाह करना नहीं चाहते थे तब। किसी में कोई त्रुटि और किसी में कोई दोष निकाल कर प्रस्तावों को ठुकराते रहे हैं सदा। फिर यह तो स्वयं ही पसन्द की होगी। यह सब सोच कर मैंने निश्चय किया कि अवश्य ही बहू को देख कर लौटूँगी। भेंट-पूजा का क्या है, फिर भी दी जा सकती है। फिर मुझे भी अपनी प्रबल इच्छा के सामने झुक जाना पड़ा।

[२]

मटर की कच्ची फलियों का ढेर सामने पड़ा था, और वह चौकी पर बैठी मटर छील-छील कर कुछ खाती जा रही थीं, और कुछ कटोरे

में रखती जा रही थी। पास ही बैठे दोनों बच्चे भी खाने में होड़ लगा रहे थे। मैंने सामने जाकर पूछा— "भूषण भैया कब छूटे जेल से? तुम तो मुझे पहचानती नहीं, वह मेरे भाई लगते हैं।"

"हाँ, वह तो कहते थे कि उनसे मिलने नहीं जा पाया— फ़ुरसत ही नहीं मिलती। उन्हें फ़ुरसत मिले तो हम सब एक दिन वहाँ आएँ।" बहू ने नमस्ते करके बैठ जाने के लिए कहते हुए कहा।

मैं भी चौकी के एक किनारे बैठ गई। मैंने कहा— "ऐसा क्या काम रहने लगा है अब उन्हें, क्या कोई नई पुस्तक लिख रहे हैं? इस समय भी दफ़्तर में हैं— कब तक उठेंगे......?"

"जाने जी! उन्हें तो बच्चों तक से बोलने की फ़ुरसत नहीं, कभी पूछा तो पूछ लिया— 'इन्हें दवा दे दी...?' या 'खाना तैयार है.?' बस, और तो अपनी ही उधेड़-बुन में लगे रहते हैं। हमें क्या पता क्या कर रहे हैं?"

इतनी बात-चीत के बाद एक दम मौन से वातावरण भारी सा हो उठा। न मुझे कुछ कहना सुनना था— और न उन्हें ही। परन्तु इस इतने से समय के बीच मैंने कई बार युवती गृहिणी की बराबरी में भूषण भैया को खड़ा करके अपनी कल्पना के सहारे इस जोड़ी को 'फ़िट' करना चाहा, पर ऐसा कर न सकी। रंग-भेद के अतिरिक्त प्रत्येक दिशा में मुझे आकाश-पाताल का अन्तर दीख रहा था। सिर के उलझे-

सुलझे रूखे-से बाल, हाथों में रंग-बिरंगी काँच की चूड़ियाँ, बढ़े हुए नाखून और श्याम रंग पर काली छींट की छपी खादी की धोती, बात-चीत करने का ढंग भी विपरीत ! मन ऊबने-सा लगा और मैं फिर आने का वचन अपनी ओर से ही देकर खड़ी हो गई। घर में सब वस्तुएँ इधर-उधर फैली पड़ीं थीं। खाट पर कपड़ों का ढेर और आँगन में जूतों की नुमाइश सी लग रही थी। सामने ही नहाने की संगमरमर की चौकी पर साबुनदानी में 'पियर्स सोप' की टिकिया पानी में डूबी पड़ी थी। पास ही तेल की शीशी लुढ़क रही थी। कपड़े कुछ निचोड़े हुए पड़े थे कुछ गीले। नौकर दोनों रसोई-घर में बैठे गप-शप उड़ा रहे थे। दो एक काले से कुत्ते इधर उधर बिखरी जूठन चाट रहे थे। मुझे ऐसा लग रहा था कि मानो यह भूषण भैया का घर न होकर कोई सराय है।'

चौखट पर पैर रखते ही देखा कि वह अब खड़े खड़े ही मेज़ पर झुक कर कुछ लिखने लगे हैं, और फिर मैं ठिठक कर रह गई। उन्होंने वहीं से नौकर को आवाज़ लगा कर पूछा—"धोबी के यहाँ से जो चादर पीछे बाक़ी रह गई थी वह आई या नहीं... ?"

फिर सहसा कमरे से बाहर निकल आये। मैंने कहा— "पूरा एक घण्टा हो चुका मुझे यहाँ आये। तुम न जाने किस ढङ्ग के साहित्य-निर्माण में व्यस्त हो ? क्या लिख रहे थे... कहानी, या कोई उपन्यास शुरू कर रक्खा है ?"

वह एक दम खीझ कर बोले— "खाक कर रक्खा है ! धोबी की धुलाई का हिसाब कर रहा था ।" और मैं मौन स्तब्ध सी खड़ी की खड़ी ही रह गई । वह अपनी उसी शुष्क और व्यथित-सी हँसी को ओठों तक खींच कर बोले— "मेरे ही बारे में सोच रही हो न ? सोचो, सोचने का ही विषय हूँ मैं !" तभी गृहणी ने कमरे में प्रवेश कर गोद के बालक को उनकी ओर बढ़ाते हुए कहा— "इसने तो रो रो कर मुझे परेशान कर दिया । तुम्हीं ले लो ज़रा देर को इसे !"

और मैंने भी उसी समय उत्तर दे दिया— "सोचने के ही नहीं, कहानी के भी विषय हो तुम !"

स्पेशल ट्रेन

[१]

सीलिंग फ़ैन की तेज़ हवा ख़स की भीगी हुई टट्टियों से छन-छन कर कमरे को स्वर्ग बना रही थी, मानो जून के महीने में महा-पूस की ठंडी हवाएँ कमरे में बन्द कर रक्खी हों। सफ़ाई का तो कहना ही क्या ? सिर का बाल भी ढूँढे से मिल जाता। चमचमाता हुआ "मार्बिल" का फ़र्श, रोग़नी दीवारें, जिन पर कहीं तिल भर भी दाग़ नहीं दीखता ; और फ़र्नीचर ! वह तो जैसे अभी अभी ख़रीदा गया हो। विलायती शीशे की आलमारी में किताबें चुनी हुई एक ओर रक्खी हैं। मेज़ कुर्सियाँ बढ़िया और करीने से लगी हुई हैं। एक घूमती हुई कुर्सी पर मौलाना साहब बैठे 'काला चांद' की बीड़ी के कश पर कश खींच रहे हैं। उनके सामने बड़ी-सी मेज़ पड़ी है। बीच में विलायती फूलों का

'गुलदान' महक रहा है और बराबर में छोटी मेज़ पर 'टेलीफ़ोन' लगा हुआ है और वह बिलकुल शांत, मौन तथा सुखद तंद्रा में तल्लीन हैं, जैसे बहिश्त का भरपूर आनन्द कोई फ़रिश्ता ले रहा हो। पर आखिर यह मृत्युलोक ही ठहरा न ? सरकारी दफ़्तर के चपरासी ने स्याह-क़लम की चमकती हुई 'ट्रे' में रक्खा हुआ कार्ड मिनिस्टर साहब के सामने कर दिया, और तपाक से सलाम झुका कर एक ओर को तना हुआ खड़ा रहा, मौलाना साहब जैसे सोते से सहसा जाग पड़े— "ऐं ..., यह क्या है ?"

"हुज़ूर से मुलाकात फ़र्माने कोई साहब तशरीफ़ लाये हैं...। सलाम बोला है... और यह नेम-कार्ड... ।" कह कर चपरासी ने 'ट्रे' और थोड़ी आगे को कर दी।

मिनिस्टर साहब ने चश्मे को भले प्रकार कानों पर जमाते हुए कार्ड को झुक कर देखा, बोले— "यह तो उर्दू में नहीं है, जाओ इसे वापस ले जाओ।" स्टैनो पीछे की ओर बैठा कोई ज़रूरी काग़ज़ छाप रहा था, तुरन्त उठ कर आया, कार्ड देख कर बोला— "ओ ! अंग्रेज़ी में है, सरकार ! पुलिस कप्तान मिस्टर ब्रुक आपसे मिलना चाहते हैं।"

"हमसे मिलना चाहते हैं ? लीगी हैं वह ?" मौलाना साहब ने बीड़ी का धुँआ फेंकते हुए पूछा।

"नहीं साहब, अँग्रेज़ हैं।"

"अँग्रेज़ हैं!" कह कर वह सीधे हो, सँभल कर बैठ गये, फिर बोले— "अच्छा ..., उनसे जाकर हमारा सलाम बोलो और कहना कि आपको तक़लीफ़ उठाने की कोई ज़रूरत नहीं है, हम खुद बंगले पर जाकर उनसे मिल लेंगे...।" मौलाना साहब ने हुक्म सुना कर फिर धुँआ फेंकना शुरू किया।

सामने ही सेक्रेटरी साहब बैठे फाइलों को देख रहे थे, बोले— "लेकिन आप वहाँ... ?"

"सो क्या हुआ ? वह अँग्रेज़ है या दिल्लगी ? मि० पांडे, आपको बीच में बोलने का कोई हक़ नहीं।" सेक्रेटरी साहब ने एक बार सिर से पैर तक मौलाना साहब को देखा और फिर अपने काम में जुट गये। चपरासी वापस जाकर फिर लौट आया— "हुज़ूर... कोई ज़रूरी काम... कहते हैं- भला आपको तकलीफ़ दूँ मैं!"

"अच्छा...अच्छा, ठहरो हम चलते हैं।" कहते हुए मिनिस्टर साहब कुर्सी से उठ खड़े हुए। स्टैनो ने चपरासी को इशारा किया— "बुला ले यहीं।"

मि० ब्रुक मौलाना से हाथ मिला कर फिर मि० पांडे की ओर बढ़े, उन्होंने पहले ही हाथ बढ़ा दिया और फिर आदरपूर्वक बैठाने के लिये कुर्सी खींच ली, किन्तु मौलाना साहब ने खड़े खड़े ही जानना चाहा कि वह किस लिये आए हैं। मि० ब्रुक ने कुछ कहना चाहा, तभी सेक्रे-

टरी साहब को आदेश मिला कि वहीं ब्रुक साहब से बातचीत करके, उर्दू में उसका तर्जुमा कर दें।

मि० पांडे ने सबको बैठ जाने का आग्रह करते हुए ब्रुक साहब से बातचीत शुरू की और मिनिस्टर साहब को समझाया कि "दंगे का खयाल बढ़ता जा रहा है, कुछ पुलिस बढ़ाने की ज़रूरत है, आप क्या हुक्म देते हैं?"

मिनिस्टर साहब ने थोड़ी देर सोचने के बाद जवाब दिया— "बढ़ा लो, जितनी ज़िला लीग कमेटियाँ हैं सबको भर्ती का नोटिस दे दिया जाय। इस बात का खयाल रखा जाये कि तनख्वाह कम न हो और रहने के लिए हर एक को बँगला मिले।"

मि० पांडे ने किसी प्रकार संयत होकर साहब का मंशा ब्रुक साहब को समझा दिया। वह जैसे आकाश से गिर पड़े— "एँ, बँगला? हर एक कांस्टेबिल को? और मुस्लिम लीग में तो सभी नवाब और ज़मींदार या ताल्लुक़ेदार हैं, वह इतनी छोटी 'पोस्ट' को कैसे मंज़ूर कर सकते हैं?"

मि० पांडे ने यही सब मौलाना साहब को समझा दिया। उन्होंने फिर थोड़ी देर सोच कर कहा— "मंजूर करेंगे क्यों नहीं? ज़रूरत पड़ने पर तनख्वाह और बढ़ाई जा सकती है।" सब एक दूसरे का मुँह देखने लगे। इतने ही में चपरासी फिर आया— "हुज़ूर! बाहर भीड़ बढ़ती

ही जा रही है। जाने क्या तमाम शहर के धोबी, लुहार, जुलाहे और कत्तिनें टूट पड़ी हैं। जूते बनानेवाले अलग शोर मचाने को तैयार खड़े हैं।"

"ऐं, तैयार खड़े हैं! क्या 'काफ़िर' लोग हैं? उन्हें फ़ौरन गोली से उड़ा दिया जाय।" मिनिस्टर साहब ने हुक्म दिया।

"नहीं हुज़ूर! वह काफ़िर नहीं हमजात ही हैं, कहते हैं माल नहीं मिलता। हम बेकार बैठे हैं, बाल-बच्चे भूखों मरे जा रहे हैं, उन्हें माल मिलना चाहिए और राशन की मिक़दार बढ़नी चाहिए।"

"हूँ, तो क्या ये भी मुस्लिम लीगी हैं सब?" मिनिस्टर साहब ने पूछा।

"नहीं सरकार, मुसलमान हैं। कहते हैं कि सुना है मुस्लिम लीग ही तमाम हिन्दुस्तान के मुसलमानों की सरकार बनी है। इसीलिए अपना अपना दुखड़ा रोने आये हैं।"

"नहीं, उनसे कह दो हमारे पास ऐसा कोई इन्तज़ाम नहीं है, वह सब 'कांग्रेस' से कहें, या फिर लीग में शामिल हों, तब कोई महकमा इन लोगों के लिये खोला जा सकता है।"

चपरासी नें वापस आकर कहा— "हुज़ूर से दो बातें करना चाहते हैं बस ...।"

मिनिस्टर साहब ने घड़ी की ओर देख कर कहा— "अच्छा अच्छा,

इस वक़्त तो हम खाना खायेंगे, शाम को अमीनाबाद पार्क में उनसे मुलाक़ात हो सकती है, हमें अपना जूता लेने वहाँ जाना है, कह दो वहीं मिलें ....।"

मिनिस्टर साहब 'लंच' के लिए चले गये, और मि० पांडे तथा ब्रुक साहब बातें करते हुए बाहर निकल आये।

[२]

आज लखनऊ के हर एक चौराहे और हर एक दूकान पर इतनी भीड़ है कि पहले कभी भी नहीं देखी गई। जिसे देखो काम में इतना व्यस्त है कि दो बातें करने की भी फ़ुरसत नहीं, कोई साबुन-तेल खरीद रहा है, तो कोई मंजन-ब्रुश ही पसन्द कर रहा है, कोई दवाइयों का पैकिंग बग़ल में दबाए भाग रहा है, कोई मेवा और मसालों की पुड़ियें बँधवा रहा है। मोटर और लारियाँ, तांगे और इक्के सब स्टेशन की ओर दौड़े जा रहे हैं, रिक्शावालों ने अलग होड़ लगा रखी है, इंसान में पशुबल दीख रहा है। करें भी क्या? ठीक छः बजे 'स्पेशल ट्रेन' नैनीताल के लिए छूट जायगी। सरकारी दफ़्तर सब वहीं जा रहे हैं, इसीलिये मिनिस्टरों से लेकर चपरासी तक व्यस्त हैं। मिनिस्टर आदेश दे रहे हैं, सेक्रेटरी सब सामान को निगाह से तोल रहे हैं, क्लर्क और स्टैनोग्राफ़र अपना सामान चुन कर रखते जाते हैं, चपरासी बक्सों को झाड़-पोंछ कर ठीक कर रहा है, तो कहीं दावात-क़लम साफ़ करके रक्खे

जा रहे हैं। आज तो आख़िरी दिन है न? कुछ ही घंटे बाक़ी हैं, और काम अभी बहुत पड़ा है। जिसे देखो वही सतर्क दीख रहा है—"कोई चीज़ छूट न जाए, कुछ टूट न जाए, सरकारी माल ठहरा, खराब होने पर आफ़त टूट पड़ेगी।" 'स्टैनोग्राफ़र' अपने अपने 'टाइपराइटर' झाड़-पोंछ कर बक्सों में सँभाल-सँभाल कर रख रहे हैं मिनिस्टर लोग ज़रूरी फ़ाइलों को आँखों से निकाल रहे हैं। सेक्रेटरी लोग अलग काग़ज़ों को छाँट रहे हैं। ठीक समय पर सब लोग तैयार होकर स्टेशन पर पहुँच जाएँ, ऐसा न हो कि कोई पीछे छूट जाये, बड़ी हिमाक़त की बात होगी।

मौलाना साहब कुर्सी पर लेटे अख़बार पढ़ने में व्यस्त हैं। जेब में हाथ डाल कर देखा तो बीड़ी खतम हो चुकी। चपरासी को घंटी बजा कर बुलाया और हुक्म दिया—"दो बण्डल काला चाँद ले आओ फ़ौरन!"

स्टैनोग्राफ़र ने सलाम झुका कर कहा—"तैयार हो जाइए साहब! स्पेशल छूटने में कुल एक घंटा बाक़ी है। चपरासी किधर है? लिस्ट बना ली जाय सामान की।"

मौलाना साहब ने आँखें फैला कर स्टैनोग्राफ़र को सिर से पैर तक देखा। कहा—"अरे, सामान, कैसा सामान?"

"सरकार, गवर्नमेन्ट के दफ़्तर नैनीताल जा रहे हैं, जल्दी तैयार हो जाएँ आप, कार बाहर तैयार खड़ी है।"

"नैनीताल! नैनीताल जाकर क्या होगा? यहाँ खस की टट्टियाँ और

बिजली के पंखे सभी कुछ मौजूद हैं। वहाँ क्या यहाँ से अच्छा हो सकता है कुछ ? कह दो हम नहीं जायेंगे, यहीं रहेंगे ......।"

"ऐं, आप नहीं जायेंगे ...... यहीं रहेंगे .... ?" स्टैनोग्राफ़र मुँह फैलाए साहब की ओर देखता ही रह गया। तभी सेक्रेटरी साहब ने कमरे में प्रवेश कर, चपरासी और स्टैनो को डाँटते हुए कहा— "तुम लोग सामान रखवाने आए थे कार पर, या तमाशा देखने ? सिर्फ़ आधा घंटा बाक़ी रह गया है अब। चलो, लिस्ट वग़ैरा बनती रहेगी गाड़ी में ......। जल्दी करो।"

मौलाना साहब बीड़ी सिलगाने लगे। सेक्रेटरी साहब ने उनकी ओर घूम कर कहा— "चलिए आप बैठिये, यह लोग सामान उठा लायेंगे। आप सिर्फ़ इन्हें बतला दीजिए ...... ।"

लेकिन उन्हें जैसे बाध्य कर रहे हों यह लोग, अभी यह अख़बार भी पूरा नहीं देख पाये थे। झुँझला कर बोले— "अरे, आफ़त क्यों मचा रक्खी है सब लोगों ने ? हमारा सामान ही क्या है— एक गठरी और टोपी बस !"

गृहिणी

भाभी को देखने का चाव हम सभी के मन में खूब था। विनय भैया जैसे कलाकार और सुरुचिपूर्ण युवक की पत्नी न जाने कितनी चतुर, सुन्दर और सुशील होगी– इस कल्पना ने जैसे हमारी इच्छा और प्रबल कर दी और उस दिन सभी ने उन्हें बाध्य करके वचन ले ही लिया कि 'वसंत भ्रमण' करने इस बार सब मिलजुल कर किसी बाग़ या नदी किनारे के किसी खेत में अवश्य चलेंगे।

उन दिनों मटर की फली, गन्ने और हरे चने का मौसम था। ताज़े-ताज़े तोड़ कर खाने के विचार मात्र से ही मुँह में पानी भर-भर कर आने लगा, और ठीक पंचमी के दिन विनय के घर जाने का निश्चय हुआ, क्योंकि वहाँ से भाभी को भी साथ लेना था।

सुना था कि स्त्री के अलावा दो बच्चे भी हैं उनके, और पता नहीं कि माँ, बहिन, भाई या जाने कौन कौन चलें। इसीलिए पूरी लारी का प्रबन्ध किया गया। बाग़ बग़ीचों में घूमने-फिरने, सरधने के चर्च और नहर की सैर करने का भी कार्य-क्रम था।

सवेरे चार बजे से उठ कर कढ़ाई चढ़ा दी गई — पूरी-कचौरी, साग-सब्ज़ी के अतिरिक्त बहुत सा हलुआ घोंटा गया मेवा डाल कर और असली घी का।

बाक़ी समान विनय भैया ने अपने सिर ले लिया था— पान, सिगरेट, फल और ऐसी ही दूसरी बाज़ारू चीज़ों के ले चलने का।

साथ में लोटा-बाल्टी, दरी और क़ालीन, पानदान और चटाइयाँ, नमक-मिर्च तथा अचार-मुरब्बे, सभी चीज़ें याद कर कर के रख ली गईं। निर्मल भाई ने अपना 'फ़ोटो कैमरा' भी ठीक करके रख लिया। उनका विचार था कि एक 'ग्रूप' लेंगे और बाक़ी प्रत्येक परिवार का अलग-अलग 'फ़ोटो' खींचेंगे, विनय भैया के परिवार का तो अवश्य ही। क्योंकि विवाह को कई वर्ष हो जाने पर भी कभी उनकी बहू को देखने का अवसर अभी तक प्राप्त नहीं हो सका था, इसीलिए उस परिवार के प्रति सबके मन में अधिक चाव था।

इन सब तैयारियों के अलावा मेरे मन में एक और उलझन थी— आख़िर विनय की बहू को पहिली बार देखने पर उन्हें कुछ देना भी तो

था, और इस मँहगी के ज़माने में कौनसी चीज़ खोजी जाए, जो उनके उपयुक्त भी हो और आसानी से मिल भी सके ?

कभी ढाके की साड़ी देने का विचार होता तो कभी जैसोर का बना 'ड्रेसिङ्ग-सेट' और कभी चाँदी की 'सिंदूरदानी' देना ठीक लगता तो कभी कोई पुस्तक ही... । पर समझ में नहीं आया कि कौन सी पुस्तक ? क्योंकि नई दुलहिन होतीं तो 'विवाह और प्रेम' जैसी पुस्तक दी जा सकती थी, पर वह तो अब दो बच्चों की माँ थीं। कढ़ाई-बुनाई या सिलाई अथवा पाक-विज्ञान या सन्तति-शास्त्र जैसी पुस्तकें भी उन्हें देना कुछ हास्यास्पद सा प्रतीत हुआ। आख़िर वह गृहिणी थीं, कोई अबोध बालिका तो थी नहीं जिसे यह सब सीखना समझना बाक़ी होता। आख़िर मैंने तय किया कि घर में जो चाँदी की डिबिया पान रखने को पड़ी है, वही उन्हें पानों से या इलायचियों से भर कर दे दूँ इस समय तो, फिर जब कभी यहाँ आएँगी तो जो कुछ होगा भेंट करूँगी। आख़िर कभी तो हमारा निमंत्रण स्वीकार करेंगी ही और कभी तो विनय भैया को उन्हें साथ लाने का सुभीता मिलेगा ही। अब पहिली भेंट तो इस 'पिकनिक' के बहाने हो ही जायगी, फिर आने में वैसा संकोच नहीं रहेगा।

लारी में सारा सामान लाद कर ठीक सात बजे हम सब लोग उनके घर पहुँच गये, नीचे एक बूढ़ा सा दरबान हुक्का गुड़गुड़ा रहा था, और ऊपर से बेहद शोर-गुल सुनाई पड़ रहा था। मन को कुछ संतोष

हुआ कि यह लोग भी जल्दी-जल्दी तैयार हो रहे दीखते हैं। मैं धीरे-धीरे ऊपर चढ़ने लगी, और साथ के अन्य लोग भी पीछे पीछे आने लगे।

ठीक छज्जे के पीछे उनका बड़ा कमरा था। देखने में ऐसा लग रहा था कि जाने की तैयारी में अभी तक कमरे की सफाई भी नहीं हो पाई थी। बिस्तर ज्यों के त्यों बिछे पड़े थे और तमाम कमरे में मूँगफली के छिलके तथा दूध के जूठे गिलास और अधजली सिगरेटें तथा माचिस की सींकें वैसी ही पड़ी थीं। एक कोने में पाँच-चार कुर्सियाँ बिछी थीं जिन पर अन्धाधुन्ध कपड़े लदे पड़े थे। ओढ़ने की गर्म चादरों से लेकर धोतियाँ, तौलिये और बच्चों के असंख्य कपड़े अस्त-व्यस्त दशा में पड़े दीख रहे थे।

दूसरे कोने में एक बड़ी सी मेज़ पर उनके दफ्तर के काग़ज़ों के अलावा दो-चार फटी पत्र-पत्रिकाएँ भी रक्खी थीं, जिनकी तस्वीरें देखते-देखते बच्चों ने नष्ट ही कर दिया था। कमरे के चौथे कोने में साइडरूम का दरवाज़ा था जिसका एक किवाड़ बन्द था और एक खुला। अन्दर कुछ बक्स और गठरियाँ सी खुली पड़ी थीं, और कोई श्रीमती जल्दी-जल्दी धुले हुए कपड़ों में से कुछ कपड़े खींच-खींच कर एक ओर डालती जा रही थीं। मैंने सोचा क्या यही हैं विनय भैया की बहू? साँवला सा रंग और हल्के-हल्के चेचक के दाग़, छोटी-छोटी आँखों पर सुनहरी 'फ्रेम' का चश्मा लगाए, मैली सी धोती पहने बैठी थीं आयु भी चेहरे से कुछ कम नहीं जँच रही थी।

अजीब उलझन में थी— किससे क्या पूछूँ और कहाँ बैठूँ ? कमरे के बीचोंबीच खड़ी लड़की कपड़े पहना देने के लिए गला फाड़ फाड़ कर रो रही थी और उसके पास ही एक दो ढाई वर्ष का लड़का हाथ में धुला हुआ जाँगिया लिए ज़मीन में लोट रहा था, शायद जाँगिए में नाड़ा डलवाने को हठ कर रहा था। हम सब हक्के बक्के से खड़े रहे।

थोड़ी देर बाद, कुछ साहस करके मैंने श्रीमती जी से पूछा— 'विनय भैया कहाँ हैं ... ?'

'नहा रहे हैं ....।' कहती हुई वह ज्यों की त्यों अपने काम में व्यस्त बैठी रहीं। हम सब छज्जे पर टहलते-टहलते नीचे सड़क की ओर देखते रहे। मन बड़ा उतावला हो रहा था— 'बड़ी देर कर दी इन लोगों ने चलने के लिये !'

थोड़ी देर के बाद विनय नहा कर आ गए। बालों में पानी टपक रहा था। हाथ में कंघा लिए आकर बोले— 'अरे, खड़े ही हो सब लोग ? बीबी ! आओ बैठो...।' और फिर जल्दी-जल्दी उन्होंने कुर्सियों पर पड़े कपड़े और कपड़ों के नीचे दबे बच्चों के खिलौने उठा कर खाट पर डालना शुरू किया। हम लोग भी सहारा पाकर उनकी सहायता में जुट गए, पाँव तो खड़े खड़े दुखने ही लगे थे। बैठने के बाद विनय ने उन्हीं श्रीमती को सम्बोधित करते हुए कहा— 'माया, बीबी आई हैं और तुम न जाने किस उधेड़-बुन में लगी हो। पान वग़ैरह मँगाओ, किसी से कहना, छः बीड़े लगवा लाए, और थोड़ी तम्बाकू भी...।'

किन्तु तुरन्त ही— 'मैं लाता हूँ।' कहते हुए वह बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए नीचे उतर गए, और माया वहाँ से उठ कर पीछे खुली छत की ओर चलीं गईं। उनके पैरों की उँगलियों के बिछुवे और पायल झन-झन करके बज उठे। सबका ध्यान सहसा उधर ही आकर्षित हो गया। सामने ही रसोई थी, उसमें बैठी कोई महिला इधर को पीठ किए चूल्हे पर रखी कोई चीज़ चला रही थी, और एक दस-बारह साल की लड़की सिल पर कोई चीज़ पीस रही थी।

बहू शायद ग़ुसलखाने से कंघा लेने गईं थीं, कमरे में खड़ी लड़की के बाल काढ़ने लगीं। तभी वह बालक और भी चीखने लगा — 'पैले नाला दालो जी...।' पर जैसे उन्हें इन बातों का भली प्रकार अभ्यास हो गया था। वह उसी निश्चल भाव से लड़की के बाल खींचती रहीं— और बालिका मुँह बना-बना कर दोनों हाथों से अपनी कनपटी दबा कर व्यथा को हल्का करती रही। तभी विनय भैया पान लेकर आ गए।

पान देने के बाद वह बालक को चुप कराने की असफल चेष्टा करके मेज़ के कोने पर जा बैठे— बिलकुल निर्विकार भाव से।

मैंने कहा— 'बड़ी देर कर दी भइया! तुमने तो ... ?'

बोले— 'नल में पानी थोड़ा थोड़ा आ रहा था। शायद नीचे का नल खुला पड़ा होगा— वैसे तो मैं जल्दी ही नहा लेता हूँ ......।'

और तभी सिल के पास बैठी बालिका ने कहा— 'कढ़ी चावल बन गए भैया, आओ खा लो। थाली लग गई है।'

'आया...।' कहकर उन्होंने हम सबकी ओर देखते हुए कहा— 'थोड़े-थोड़े कढ़ी चावल खा लो।'

'ऐं कढ़ी चावल? सुबह आठ बजे कढ़ी चावल खालें ...? क्यों, यह इतना खाना क्या मैं अपने ही पेट के लिये बना कर लाई हूँ? तुम सब घर से कढ़ी चावल खा कर चलोगे?' मैंने कहा।

विनय भैया जैसे पहाड़ से गिर पड़े— 'ओ, मैं बिलकुल भूल गया था बीबी! रात को ११ बजे के क़रीब यह तय हुआ कि हम 'पिकनिक' पर नहीं जा सकेंगे। सोचा था, तुम्हें सवेरे ही ख़बर करा दूँगा, बड़ी ग़लती हुई ....।'

श्रीमती जी तब तक बच्चों को रसोई में बैठा कर शायद नहाने चली गईं थीं। विनय ने आवाज़ लगाकर कहा— 'माया, थालियाँ ठीक करो ...!'

मैंने विरोध करते हुए कहा— 'बस रहने दो, तुम भी खूब हो। अच्छा चकमा दिया ......।'

निर्मल बाबू भी बोल उठे— 'यह सामान जो हमारे साथ है। वह कढ़ी चावल न सही फिर भी उससे कम स्वादिष्ट नहीं, न मानो तो चख कर देख लो ......।'

'सो मैं जानता हूँ, बहुत बार खा आया हूँ, पर क्या करूँ ? मेरी फूटी क़िस्मत !' विनय ने कहा।

'आख़िर कारण क्या है ? चल क्यों नहीं रहे ? उस दिन तो सब निश्चय हो ही चुका था। अब वक्त पर क्या मक्खी ने छींक दिया ? व्यर्थ इतना झंझट, और देर अलग हुई।' निर्मल ने उठते हुए कहा।

'डाँट लो भैया ! जितना कह सको कह लो। अभी तुम्हें क्या पता ...... ? खैर गलती तो मेरी ही है। खबर तक नहीं करा सका।' विनय ने क्षुब्ध होकर कहा।

मेरा मन भी बड़ा खिन्न हो उठा था। मैंने कहा— 'बात भी तो मालूम हो कि क्यों चल नहीं रहे ?'

विनय ने इधर उधर देख कर कहा— 'रात ११ बजे माया के पेट में बड़ा दर्द उठा और मुन्नी का गला कई दिन से ख़राब है। मुन्ने का कान बह रहा है, और बहिन को तीसरे दिन मलेरिया तंग करता है। माया की आँखों में कास्टिक भी लगवाना है ......।'

हम सब मुँह फाड़े इन अनेक कारणों को ध्यान से सुन रहे थे। निर्मल ने कहा— 'और और किसे क्या-क्या है ? सोच-सोच कर बताते चलो ....। आख़िर यह सब कहने का तात्पर्य ?'

विनय ने झेंपते हुए कहा— 'तात्पर्य क्या भाई, हम सब डाक्टर के यहाँ जा रहे हैं।'

'डाक्टर के यहाँ जा रहे हैं ...... सब ? कढ़ी चावल खा खा कर ... ... ?' एक साथ ही हम सब जैसे चौंक पड़े।

तभी माया जी भी तैयार होकर आ गईं। माँग में खूब सा सिंदूर भरे, आँखों में काजल और माथे पर चौड़ी सी बिन्दी लगाए। होठों पर खूब गहरा लिपिस्टिक और चेहरे पर पाउडर। मैंने एक बार उनकी ओर देखा— और एक बार रूमाल में लिपटी पानों की डिबिया की ओर देखा। साथ ही मुझे ध्यान आया कि 'शिष्टाचार' के ऊपर तो विनय भैया ने ही एक पुस्तक लिख कर छपाई है, पर 'नागरिकता' के ऊपर अभी तक किसी अच्छे लेखक की कोई पुस्तक नहीं छपी क्या ?

श्रीमती जी ने बिना किसी की ओर देखे ही पति से कहा— 'जल्दी तैयार हो जाओ, डाक्टर के यहाँ चलने को बड़ी देर हुई जा रही है, बस तुम्हारी ही देर है, बड़े ही आलसी हो ...... ।'

विनय के ऊपर मानों सैंकड़ों घड़े पानी पड़ गया। फिर हम सब चुपचाप नीचे उतर आए। मैं सोचने लगी— 'यह कैसी गृहिणी है ?'

प्रवास

"केवड़े में बसा दिए, हरियाले मुलाम।"

सिंघाड़ेवाले की आवाज़ सुन कर मुन्ना झट पलंग से कूद कर बाहर निकल गया— "अम्मा! सिंघाड़ेवाला आ गया...... हम तो सिंघाड़े लेंगे।"

गंगा ने उसे पकड़ना चाहा— "आज कल किसी का क्या भरोसा? न जाने कितने फूल से बच्चे निर्दयता से काट काट कर डाल दिये, बिलकुल गाजर मूली की तरह। आप रोकती भी नहीं बीबी जी! आख़िर यह बुड्ढा भी तो उसी जात का है?"

मैंने उसे समझाते हुए कहा— "गंगा! सभी आदमी तो दुनिया में एक से नहीं होते, इस बुड्ढे के घर में क्या बच्चे नहीं हैं? कितनी बार मुन्नू के जूते और कपड़े माँग माँग कर ले जाता है अपने नाती नतनियों के लिए, वही क्या आज ऐसा हो जायगा? जा, तू भी चली जा न? पूछ किस भाव दे रहा है सिंघाड़े?"

उससे मैंने यह सब कह तो दिया, किन्तु मन न जाने कैसा होने लगा, और जी न माना तो मैं भी बाहर कुर्सी पर आकर बैठ गई। गंगा मुन्ने को घसीट रही थी और सिंघाड़ेवाला उसे डाँट रहा था— "क्यों तंग करती है बच्चे को? तेरा क्या माँग रहा है— तू नौकर है या कोई मालिक ...?"

और फिर बुड्ढे ने कचिया से दो सिंघाड़े अपने काँपते हुए हाथों से छील कर मुन्ने को थमा दिये— "लो खाओ, हम तो तुम्हारी ही बदौलत जीते हैं, भैया! जब बड़े हो जाओगे, तब खूब सौदा खरीदोगे— बीबी जी तो बहुत भाव ताव करती हैं— मुन्ना ऐसा नहीं है।"

मुन्ना बहुत प्रसन्नतापूर्वक अपने नन्हे-नन्हे दाँतों से सिंघाड़े चबाते बोला— "तुम्हें अपनी छोटी सी साइकिल पर घूमने ले चलूँगा बड़े मियाँ, गंगी को नहीं।"

सिंघाड़ेवाले ने मुन्ने को अनेकों आशीर्वाद देते हुए मुझ से कहा— "छः आने सेर दिये हैं, आज तो ले लो सेर दो सेर।"

मैंने कहा— "बाज़ार में तो चार आने सेर बिक रहे हैं और तुम दोगे छः आने— फिर कहते हो बीबी जी भाव ताव करती हैं।"

उसने सेर भर सिंघाड़े तोल कर मेरे पैरों के पास डाल दिये। बोला— "चलो चार ही आने सही, १५ दिनों से बच्चे भूखों मर रहे हैं, बाप उनका पकड़ा गया इस दंगे में, इस झगड़े ने बर्बाद कर दिया

ग़रीबों को तो। बड़े आदमियों के मज़े हैं बस। बहुतेरा समझाया कम्बख़्त को, लालच में आकर मुहल्ले के गद्दियों के साथ निकल गया, फिर सुना कि गिरफ़्तार हो गया ...।"

"ऐं, लालच में आकर! लालच कैसा?" मैंने आश्चर्यचकित हो कर उससे पूछा। "मुझे क्या पता जी, जैसा कोई करेगा, वैसा भरेगा। हमारे मुहल्ले के गद्दी बड़े..., क्या पता जी, सुना है कि दूध में कुछ मिला रहे थे— या मिला दिया था— आवारे लोगों का क्या है जी!" बुड्ढे ने बड़ी उदासीनता से उत्तर दिया।

इतने ही में पड़ोस के वकील साहब आकर कहने लगे— "क्या ख़रीद रही हैं? अभी सुना है कि किसी जगह फलों में ज़हर का इंजेक्शन लगा हुआ देखा गया है ...।"

मेरा मुँह फ़क पड़ गया, पर बुड्ढा ज़रा भी विचलित नहीं दीखा। हँस कर बोला— "यह कमीनों का काम है बाबू जी! सुना मैंने भी था— लेकिन ख़ुदा न करे जो ऐसा काम कोई करे। देखिये, चने के साथ घुन पिसता है। लड़का पकड़ा गया। उसने कुछ किया या न किया, लेकिन खोटी संगत का फल भोगना पड़ा हम सबको। चार पैसे का सौदा बेच कर पेट में डाल लिया करते थे दो दाने, अब हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं। अभी मँहगी से पीछा छूटा नहीं कि यह नई आफ़त सिर पर आ गई, बच्चे भूखों तड़पने लगे। तब आज सिर से क़फ़न बाँध कर घर से निकला हूँ।"

मैंने देखा वह कुछ उत्तेजित सा हो उठा। उसे समझाते हुए मैंने कहा— "नहीं, बड़े मियाँ! तुम्हें यहाँ कोई डर नहीं है। आखिर और लोग भी तो यहाँ काम करते ही हैं, ग्वाला, भिश्ती, धोबी, उन्हें ही क्या डर है? हालांकि उन सबने अब पिछले दिनों आना छोड़ दिया था— लेकिन कहाँ खीचती है? एक दूसरे के बिना काम चल ही नहीं सकता।" इतने ही में चिक बनानेवाला आकर खड़ा हो गया— "माफ़ करना बीबी जी। यह चिक दो ही बन पाई हैं, बाक़ी चार फिर लाऊँगा। क्या बताऊँ बाँस आ सके न सुतली, रंग थोड़ा बहुत घर में पड़ा भी था। लड़ाई ने तबाह कर दिया, मेहनत मज़दूरी से भी हाथ धोना पड़ा ....।"

मैंने कहा— "लड़नेवाले भी तो हम तुम लोग हैं, भैया! यह बात पहिले ही सोची जाय, तो लड़ाई होवे ही क्यों?"

चिकवाले ने अपने फटे और गन्दे कपड़ों को झाड़ते हुए कहा— "तोबा तोबा! हम तो तुम्हारे ही हैं बीबी जी! यह बात मत कहो, लड़नेवाले जानें, हमने तो अपने मुहल्लेवालों से यह तय कर लिया है, न तुम लड़ो, न हम किसी से कुछ कहें। सब एक दूसरे की मुसीबत में काम आते रहे हैं— और आते रहेंगे। कोई बीस घर बनिये बामनों के होंगे, और इतने ही हमारे। हमने कह दिया तुम सब बेफ़िकर होकर सोओ, और हम जागेंगे। क्या मजाल जो कोई आँख उठा कर देख भी ले। उस दिन पं० भोलानाथ के यहाँ लकड़ियों की ज़रूरत थी,

बिचारे डर के मारे बाहर नहीं निकल सकते थे, मैंने कहा— 'मैं लाऊँगा', और तुरन्त टालवाले से ताला खुलवाया जाकर— जान-पहचान का था। तीन घड़ी के भाव सूखी बन की उठा लाया उसके यहाँ से। और देखना जी, यही एका कैंचीवालों ने अपने मुहल्ले में कर रक्खा है, सदर लालकुर्ती का तो आपने सुना ही होगा— भैया जी का नाम भी आपने सुना होगा— राजा आदमी ठहरे, उन्होंने क़ुरान शरीफ़ की क़सम, खुले आम हिन्दू मुसलमानों से यह कहा है कि देखो इधर कोई झगड़ा न हो, हम दोनों भाई भाई हैं, सब मिल कर जैसे रहते आये हो रहो। सब एक ही खुदा के बन्दे हैं ...। हाँ तो— कुछ पैसे मिल जाते सरकार, रोज़गार चौपट हो गया। आप ही लोगों की मज़दूरी करके पेट भर लिया करते थे ...।"

मैंने कहा— "अच्छा दो रुपये ले जाओ अब तो— पूरे पैसे तब दूँगी जब चार चिकें और ले आओगे।"

चिकवाले ने अपनी चिपकती आँखें विस्फारित करते हुए कहा— "मेरा ऐतबार नहीं रहा क्या बीबी जी?"

मैंने कहा— "ऐतबार तो तुम्हारा दस वर्ष से करती आ रही हूँ, लेकिन फिर लड़ाई दंगे का बहाना लेकर महीनों टालते रहे, तब?"

उसने अपने पान से लिपे हुए घिनौने दाँत निकालते हुए कहा— "न करे खुदा ऐसा, अमन रहे बस, इतवार तक वह चारों चिकें

ज़रूर ग्रा लेंगी। ग्रौर ग्रव की मुन्ने के खेलने को एक छोटी सी कंठी भी लाऊँगा बना कर। क्यों मुन्ने मियाँ?" ग्रौर फिर मुन्ने को गोद में उठा लिया उसने।

वकील साहब जो इतनी देर से चुप बैठे थे, बोले— "थोड़े दिन की बात है मियाँ! यहाँ के वहाँ ग्रौर वहाँ के यहाँ, फिर कहाँ बीबी जी ग्रौर कहाँ तुम? तुम्हें सबको पाकिस्तान में जाकर रहना है— ऐसा इन्तज़ाम होने वाला है।"

चिकवाले के हाथ से उसका "फ़ुरा" छूट पड़ा— ग्रौर सिंघाड़े वाला एक दम बैठे से खड़ा हो गया— "यह क्या कह रहे हैं हुज़ूर! ग्रौर लोगों से भी ग्रदला बदली की बात सुनी थी— लेकिन ग्राप तो पढ़े-लिखे हैं, हमने तो यह सब गप्पबाजी समझ रक्खी थी भला यह कैसे मुमकिन हो सकता है? यहाँ हमारे घर बार हैं— ग़रीब ग्रादमी ठहरे, कच्चे-पक्के झोंपड़े जैसे तैसे बना रक्खे हैं— मज़दूर ग्रादमी के लिये तो वही नियामत है। दूसरे वतन में कैसे जा सकते हैं? हम तो वहाँ की बोली भी नहीं समझ सकते?"

वकील बाबू ने कहा— "तुम्हारे तो कच्चे पक्के झोंपड़े ठहरे, लेकिन उनके दिल से पूछो— जिनकी ग्रालीशान कोठियाँ ग्रौर हरे भरे बग़ीचे छूट जायँगे— जैसे यह भैया जी ही देखो— लाखों की जायदाद छोड़नी पड़ेगी। क्या हुग्रा यदि ग्रौने-पौने दामों में हम लोगों ने ख़रीद

ही ली तो। लोग बाग तो अभी से माप रहे हैं, वह जो नुमायश की तरफ़ हाजी जी की कोठी है— उसे तो प्रेस वाले ही लेने को तैयार हैं।"

मैं जैसे आकाश से गिर पड़ी— "एँ.... प्रेस वाले लेंगे उसे! बिकेगी वह, और यह सब लोग पाकिस्तान में चले जायेंगे! फिर क्या होगा? हमारा ग्वाला भी वहीं भेज दिया जायगा क्या? उसके बिना तो काम चल ही नहीं सकता, गाय तो किसी को भी हाथ लगाने नहीं देती। तुम्हें तो मालूम ही है कि पिछले १५ दिनों तक वह नहीं आया, तो गाय का नाश हो गया, एक बूँद दूध नहीं दिया। मुन्ना भूखा तड़प-तड़प कर रह गया। न दवा, न दूध; उन दिनों बीमार था न? यह सब तुम क्या कह रहे हो, भैया!"

वकील साहब ने अपनी स्वाभाविक हँसी हँसते हुए कहा— "क्या भूठ थोड़े ही कह रहा हूँ मैं? ऐसी ही तजवीज़ चल रही है बराबर, अगर ऐसा हुआ तो बहुत जगह निकल आयेगी, पुर्वे के पुर्वे और मुहल्ले के मुहल्ले खाली हो जायेंगे ...।"

"और गाँव, गाँववाले अपनी खेती बारी कैसे छोड़ देंगे?" मैंने दुखी होकर पूछा।

"क्या किया जाय, लाचारी ठहरी, छोड़ना ही पड़ेगा सब कुछ...।" वकील साहब बोले।

"क्यों छोड़ना पड़ेगा साहब ! ज़बरदस्ती निकाल दिये जायेंगे अपने वतन से ?" — चिकवाले ने पूछा ।

"वतन ! अरे भई, वतन तो वह लोग इसे अपना समझते ही नहीं ।"

"कौन लोग जी... ? न समझें वह ! जो समझते हैं वह क्यों जायें ?" सिंघाड़ेवाले ने खाँसते खाँसते कहा—"यहीं पैदा हुए, बाप दादे के ज़माने से न जाने कब से रहते आ रहे हैं, अब घर बार छोड़ देंगे जी— लो भला — क्या बेवकूफ़ी है.... ?" सिंघाड़ेवाला अपना टोकरा सरकाने लगा ।

इतने में मास्टर साहब आकर बोले— "क्या मसला हल कर रहे हो, वकील साहब ? आज कचहरी की छुट्टी है क्या ?"

"अरे भाई, छुट्टी ही है हफ्तों से । तुम्हारा क्या है ? छुट्टी में भी तनख़्वाह चलती रहती है, यहाँ तो पेट की भी छुट्टी समझनी चाहिये छुट्टी के दिन । पाकिस्तान में जाने का ज़िक्र चल रहा था । इन लोगों का यह अदला बदली का सवाल पेश है न ?"

"हाँ— हाँ— बड़े ज़ोरों की अफ़वाह है यह, न जाने क्या होने वाला है ? वहाँ से जो लोग यहाँ आकर बसेंगे, उन्हें रहने को जगह— और खाने पहनने को अन्न-वस्त्र चाहिये, और इधर अपना ही नहीं पूरा पड़ता ।" मास्टर साहब ने कुर्सी खींचते हुए कहा ।

"तुम भी खूब हो। अरे वहाँ से आने वालों के साथ साथ, यहाँ से जो बदले में जायेंगे उनकी तमाम जगह खाली हो जायगी, और उनका खाना कपड़ा भी बचेगा— उसे आने वाले काम में लायेंगे।"

वकील साहब नगर की आबादी का हिसाब लगाने लगे। मास्टर साहब ने काग़ज़-पेंसिल अपनी जेब से निकाल कर उनके सामने मेज़ पर डाल दिया। फिर बोले—"लेकिन दोस्त, इन मस्जिदों का क्या होगा? यह तो धार्मिक स्थान ठहरे।"

"अजी होगा क्या? देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित कर दी जायेंगी इनमें। हमारे यहाँ तो एक दो नहीं, तेंतीस करोड़ देवता हैं, और छोटे मोटे अलग रहे। इंसानों से भी ज़यादा संख्या है देवताओं की। बाक़ी जो बड़ी बड़ी मस्जिदें हैं, उनकी धर्मशालाएँ बन सकती हैं, आखिर जो लोग यहाँ आकर बसेंगे— उनके बाल-बच्चों की भी तो शादियाँ होंगी-बारातें ठहराने के काम आ जायेंगी यह सब।" वकील साहब ने समस्या को हल करते हुए कहा।

"हाँ..... आँ, अच्छा और यह क़ब्रिस्तान? यह तो पंचायती ठहरे, बिकेंगे क्या यह भी? लेकिन बिके भी अगर तो ख़रीदने वालों की तो कमी होगी नहीं क्योंकि सभी जगह मौक़े की हैं, ऐसी बढ़िया कोठियाँ बनेंगी कि बस, स्कूल और सरकारी दफ़्तर भी बन सकते हैं,

बीघों ज़मीन जगह जगह निकलेगी। लेकिन लाखों पंचों में इनका रुपया कैसे बाँटा जायगा ?" मास्टर साहब फिर सोच में पड़ गए।

"तुम भी खूब हो भई! यह ज़मीनें क्या इनकी खरीदी हुई थोड़े ही हैं जो बेच जाने का हक़ होगा इन्हें ? यह तो हमीं तुम लोगों की क़ब्ज़ा ली गई हैं, इधर सेठ हरवंशलाल की कोठी के पीछे जो क़ब्रिस्तान है, वह उन्हीं की ज़मीन में बना लिया गया है, उसका काग़ज़ उनके पास मौजूद है— उस दिन उनका कारिन्दा आया था मशवरा करने।" वकील साहब ने कहा।

"अच्छा ?" मास्टर साहब सँभल कर बैठ गए— 'खूब, तब तो पाँचों घी में हैं। एकाध टुकड़ा हमें भी कहीं दिलाने की कोशिश करना भाई! मकान मालिक तो बड़ा अहसान सा दिखलाते रहते हैं हम पर। अपनी कहीं छोटी मोटी झोंपड़ी डाल लेंगे।"

"हाँ ..... हाँ— आखिर इतनी ज़मीनें क्या बेकार थोड़े पड़ी रहेंगी इसी तरह। वह जो पूरब वाला क़ब्रिस्तान है, सिविल लाइन के पास— देखिये कितनी लम्बी चौड़ी ज़मीन है वह, सुना है कि यहाँ के लाला लोगों ने निगाह जमा रक्खी है उस पर, नक्शा-वक्शा भी बनवा रहे हैं— मैं भी सोच रहा हूँ एक टुकड़ा मिल सके उसमें से, बड़े मौक़े की ज़मीन है। तुम्हारे लिये भी खयाल रक्खूँगा।" कहते हुए वकील साहब खड़े हो गये! मास्टर साहब बच्चों को घेर कर बैठ गए और

सिंघाड़ेवाला तथा चिकवाला एक ठंडी साँस लेकर खड़े हो गए—"या खुदा क्या होनेवाला है? अभी तक तो और ही भतेरी परेशानियाँ थीं— अब घर और वतन भी छूटने वाला है, इससे तो मौत ही भली......।" और मैं खड़ी खड़ी सोच रही थी— "इन सबके चले जाने से कैसे काम चलेगा?"

विडम्बना

साहित्य-जगत् में उसे कौन नहीं जानता था ? कविताएँ उसकी हृदय को छूती हुई उसके पार हो जाती थीं। कहानियाँ उसकी मस्तिष्क में एक हलचल पैदा करके क्षण भर के लिये मानव को स्तब्ध कर देती थीं, और .. और उसके निबन्ध पढ़कर लोग दाँतों तले अँगुली दबा लेते थे। ऐसा विलक्षण चमत्कार था उसकी लेखनी में। किन्तु वास्तव में उसका जीवन क्या था ? इसे कोई नहीं जानता था, न कभी किसी ने जानने की चेष्टा ही की थी। उसे भी क्या पड़ी थी, जो वह ख़ुद किसी को इस सम्बन्ध में कुछ कहता-समझाता, क्योंकि वह भावुक था और था स्वाभिमानी।

गृहिणी ने छत की मुँडेर पर बैठे बैठे कहा— "आज तो बिना ईंधन के काम नहीं चलेगा। दाल तो लकड़ी आने पर ही चढ़ाऊँगी। उठो, बड़ी देर हो गई, सूरज सिर पर चढ़ा आ रहा है।"

वह उस समय एक कविता लिख रहा था। उसे इतना अवकाश ही कहाँ था जो गृहिणी की ओर दृष्टिपात करता— कविता के भाव जो विलीन हो जाते! किन्तु.... किन्तु गृहस्वामिनी को इतना ज्ञान कहाँ से प्राप्त होता? कवि की पत्नी कवि भले ही न हो, पर भावुक अवश्य होनी चाहिए, जो कि पेट से पट्टी बाँध कर भी काव्य-सरिता में डूबी रह सके। लीला थी एक साधारण गृहस्थ की कन्या, जिसे घर के धन्धे के अतिरिक्त और कोई काम न था। वह फिर बोली— "लल्ला के पास एक भी कपड़ा ऐसा नहीं, जिसे तन पर डाल कर मेला देख आये। कल छड़ियों का मेला लगेगा, आखिर बच्चे का मन कैसे मुट्ठी में बाँध लिया जाय?"

पत्नी की अन्तिम बात सुनकर नरोत्तम के हृदय के जलते हुए अँगारे जैसे बुझने लगे— आख़िर तो वह पिता ही था। कापी पर से दृष्टि हटा कर उसने लीला की ओर देखा— और देखता ही रहा। लीला के सिर के केश न जाने कब से तेल न मिलने के कारण उलझ कर गुच्छा बन गये थे। उसके अंग की धोती में चिपके हुए पैबन्द जैसे उसकी दरिद्रता से होड़ लगाते दीख रहे थे, और वह भी कितनी मैली— घर पर ही छेत-पीटकर धो ली गई थी। उसी में लीला का कृशगात लिपट रहा

था— दरिद्रता में रोग के समान। और आभूषण का तो नाम भी उसके लिए व्यंग था— दो काँच की चूड़ियाँ भी उसके हाथों में ढंग की नहीं थीं।

कवि की भावुकता चीत्कार कर रो उठी। उसका हृदय पानी होकर आँखों में भर आया। उसके होठ हिले– यही है सुख? यही है सुहाग?– पत्नी रूठ कर उठ खड़ी हुई। बोली— "इनसे कैसे पार बसाय, न कुछ कहते बनता है, और न, न कहने से...। रात-दिन लिखते रहने से पेट नहीं भर सकता। हमसे तो मौत भी दूर भागती है।"

पत्नी का भाव देखकर नरोत्तम का शरीर जलने-सा लगा। जी में आया क्यों न वहीं छत पर से कूद कर प्राण दे डाले? लेकिन,... लेकिन फिर इन सबका क्या होगा...? वह उठा और हाथ मुँह धोकर बाज़ार की ओर चल दिया।

टालवाले के यहाँ परिचित जनों की भीड़ लग रही थी। वर्षा का आरम्भ होने के कारण सभी को घर में इकट्ठा ईंधन डाल लेने की चिन्ता थी। किसी ने कहा— "पंडित जी, क्या करें...? गीली लकड़ियाँ जलाने में बड़ी दिक़्क़त होती है।" कोई बोला— "तोल में भी मन की छः धड़ी ही उतरती हैं।" एक ने कहा— "पहले पंडित जी को तोल, भैया। वाह, भई खूब लिखते हैं, और पढ़ते भी खूब हैं! उस दिन कवि-सम्मेलन में आप ही का बोलबाला था।"

नरोत्तम ने यह सब सुना और सिर झुका लिया। फिर बोला— "नहीं, नहीं, मुझे कोई जल्दी नहीं है, पहले आप लोग तुलवा लीजिये।" और एक ओर को पड़ी बेंच पर जा बैठा। विचारों का ताँता बँध रहा था। निश्चय किया, चाहे कुछ भी हो, कोई नौकरी अवश्य ढूँढेगा। रोज़ रोज़ की हाय-हाय से किसी तरह पिंड तो छूटे। याद आया— कितना कुछ लिखा है आज तक? लिखते-लिखते उसे पूरे बीस वर्ष हो गए, इनमें से बीस दिन भी तो शान्ति से नहीं कटे। केवल प्रशंसा से ही तो पेट नहीं भरता? आखिर इतना पढ़ा-लिखा है, फिर भी क्या भाग्य में इस तरह धक्के खाने ही लिखे हैं? इसी समय टालवाले ने उसका ध्यान भङ्ग किया— "आइये पंडित जी!" उसने नज़र उठाई, तो देखा कि तक पर धरा ढाईमना पृथ्वी को छू रहा है और खाली पलड़ा आकाश छूना चाहता है! किन्तु वह इधर न उधर, अब करे तो क्या करे? जेब में थे कुल आठ आने। बोला— "भाई, ज़रा, ठहरो, मैं दाम लाना भूल गया, अभी आया तो...।"

टालवाला लकड़ियाँ चढ़ाता-चढ़ाता बोला— "कोई बात नहीं पंडित जी, दामों का क्या है, फिर आ जाएँगे।" टाल के नौकर ने विश्वास प्रकट करते हुए कहा— "मैं तो आपकी उस लाइन पर मरता हूँ बस— 'जान न पाया, मैं जीवन को'।" टाल का मालिक झूमने लगा। बोला— "क्या कहना है उस कविता का!"

कवि का रोम-रोम सिहर उठा। वह बिना कुछ कहे ही सड़क पर आ गया। उसके पाँव पृथ्वी पर नहीं पड़ते थे। रास्ते में एक नई कविता रच डाली—'विश्व हास है रोदन मेरा।' पर घर की देहरी पर पैर रखते ही सब भूलने लगा। फिर वही जीवन की विभीषिका, फिर वही अभावों का तांडव और पत्नी की मुरझाई हुई मुख-मुद्रा। आँगन में खड़े होकर उसने अनुभव किया कि पाकशाला से निकली हुई गन्ध से घर का कोना कोना महक रहा है। सोचा लीला भी कैसी बावली है, जब आज-भर का काम चल सकता था, तब न जाने मुझे क्यों इतना तङ्ग किया? खिचड़ी क्या गले में थोड़े ही चुभती है? और आगे बढ़कर रसोई-घर में झाँककर देखा – वह अँगीठी पर खिचड़ी बना रही है और सामने पड़ा है कवि के जीवन-भर की कमाई का ढेर। पर दूसरे ही क्षण वह स्तब्ध रह गया। समझ में न आता था कि वह भी इसे जीवन की कमाई ही कहे या रद्दी के टुकड़े— ईंधन?

वारदात

कुछ नये और कुछ पुराने अख़बारों का ढेर मेरे सामने पड़ा हुआ था और मैं उन्हें छाँटने में व्यस्त थी कि बाहर बड़ा कोलाहल सुन पड़ा। पास ही बैठी महरी की लड़की श्यामा बच्चे को खिला रही थी और महाराज चूल्हे में आग जलाने की तैयारी में मेरे सामने पड़े हुए अख़बारों को घूर-घूर कर देख रहा था।

मैंने महाराज से कहा— "तुम लोग यह भी नहीं देखते कि इनमें कौन जलाने योग्य है और कौन नहीं, जो भी कागज़ हाथ पड़ा कि चूल्हे में झोंकने से मतलब। देखो, लो यह अलमारी के ऊपर डाल आओ, और लो इन्हें रद्दी में दे देना, समझे, चूल्हे में न जला डालना..।"

"जी।" कह कर वह अलग छाँटे हुए अख़बारों को सहेजने लगा— तभी फिर एक चीख सुनाई दी— "अरी मैयारी...ई मैं मर गई।"

"ज़रा देख तो श्यामा ! यह कौन चिल्ला रहा है ?" अखबारों को एक ओर सरकाते हुए मैंने लड़की से कहा।

वह मुन्ने को गोदी में उठा बाहर भागी और फिर तुरन्त ही वापस आकर हकलाते हुए बोली— "बड़ा...आ... ग... गजब हो गया बीबी जी ! नाजर अपनी बहू को मारे डाल रहा है, ... उसी की बहू चिल्ला रही है। लड़की अलग रो रोकर दम निकाल रही है।"

"एँ..., नाजर चम्पा को मार रहा है— क्यों ? जा भैया से कहदे कि नाजर अपनी बहू को मार रहा है।"

श्यामा के मुंह से थूक झड़ रहा था और उसका दम फूल रहा था, जैसे इसी पर मार पड़ी हो।

इतने में फिर चीख़ सुनाई दी— "मर गई ...... मर गई ...... हाय कोई बचाओ .... ।" मेरा जी उड़ने-सा लगा— "कम्बख़्त, दिन भर काम करती है और तिस पर भी यह उसकी हड्डियाँ तोड़ता है। खुद तो इससे कुछ होता नहीं, वह बिचारी सुबह से शाम तक छोटी लड़की को गोद में दबाए तमाम कोठियों की धुलाई-सफ़ाई करती है, और यह बैठा बैठा उसकी कमाई खाता है। कितना बेशर्म है यह ! यह भी नहीं होता कि बच्चे ही को थामले ज़रा। वह फूल-सी लड़की को कभी पेड़ों की छाया में और कभी नाली के पास दीवार के सहारे डाल-कर, तो कभी रोती हुई को बगल में दबा सारा काम करती है।" कहते

हुए मैंने बाहर आकर देखा तो सच ही वह बड़ी निर्दयता से उसे मार रहा है और किशोर उसे डाँट रहा है— "तूने चम्पा को क्यों मारा रे .... , क्या इसके प्राण ही निकालकर रहेगा आज ... ?"

मुझे देखकर बोला— "देखा अम्माँ ! यह इसे कभी झाड़ू से और कभी इस टीन के टुकड़े से बराबर मार रहा है, कहने से भी नहीं छोड़ रहा दुष्ट .... ।"

मेहतर को डाँटते हुए मैंने कहा "दूर हट, नहीं तो तेरी अक्ल ठिकाने से कर दूँगी .., आखिर हुआ क्या ? कुछ मालूम तो हो कि सवेरे सवेरे ही इस बेचारी ने क्या अपराध कर डाला ऐसा जो तू इसका दम निकाले दे रहा है ?"

नाजर ने मुझे देखकर झाड़ू पंजर दूर फेंक दिया, फिर अंटी में से एक खाकी रंग के कागज़ का टुकड़ा निकाल कर मेरे सामने कर दिया, बोला— "यह देखो, सरकार, 'वारण्ट' बीबी जी ! आज चार दिन से इस कागज़ को लिये घर में बैठी है ......, यह है इसका 'वारण्ट'। इसीलिये तो मार रहा था कि बीबीजी या भैयाजी को दिखलाया क्यों नहीं, कुछ न कुछ तो हो ही जाता .., कहती है— "मैं तो इसे मिट्टी के तेल की पर्ची समझ रही थी।" पूछो हरामज़ादी से, यह मिट्टी के तेल की पर्ची है या इसका 'वारण्ट' ? हमारी तो नाक कट गई हुज़ूर। बिरादरी में मुँह दिखाने के भी नहीं रहे, माँ-दादी सब इन्हीं घरों में काम

करते-करते मर गईं, कभी किसी ने अँगुली नहीं उठाई, अब यह सबकी इज़्ज़त-आबरू लेकर जेलखाने जायगी .... ।"

वह न जाने क्या-क्या कहता रहा । मैंने किशोर से पूछा— "वारंट? इसका 'वारंट' क्यों निकला भैया! क्या बात हुई? कोई सिपाही लेकर आया था क्या?"

"नहीं तो जी, घर पर कोई दे गया था— चार दिन पूरे हो चुके आज ।" नाजर ने बहुत गम्भीरता से बीच ही में उत्तर दिया ।

किशोर ने उसे समझाते हुए कहा— "वारएट तो ख़ैर नहीं है यह, हाँ इसका चालान अवश्य हो गया है, १३ तारीख़ को 'टाउनहाल' में जाना होगा, उस दिन इसकी पेशी है; सो मैं 'चेयरमैन' को चिट्ठी लिख दूँगा, इसे माफ़ कर दिया जायेगा । शायद थोड़ा-बहुत जुर्माना हो जाए, उसी का 'समन' है यह ।"

"लेकिन चालान हुआ क्यों?" मुझे भी थोड़ी चिन्ता हो गई, बेचारी को गुज़ारे लायक़ पैसा मिलता है— इस मँहगी के ज़माने में और जुर्माना ...... ?

नाजर फिर उत्तेजित हो उठा, बोला— "सरकार! कूड़ा डालने के ऊपर ही सफ़ाई के सिपहर ने इसका चालान कर दिया होगा । भला बताओ तो हर एक कोठी का कूड़ा डालने के लिये कोस भर खत्ते पर

कैसे जाया जा सकता है ? पहले तो यहाँ टब रक्खे रहते थे। अब नये साहब ने वह भी उठवा दिये, मैला तो यह सिर पर लादकर रोज़ सुबह-शाम खत्ते पर डालने जाती ही है।"

मैंने कहा— "हाँ टब तो रखने ही चाहियें, टैक्स लेते हैं मनमाना यह लोग – और कूड़ा डालने का कोई इन्तज़ाम नहीं। पहले तो टब रक्खे ही रहते थे, कभी इसका चालान नहीं हुआ। तो क्या अब यह भी "भारत-रक्षा-विधान" के ही अन्तर्गत है कि घर का कूड़ा बाहर मत फेंको। "भारत-रक्षा-विधान" में बहुत कुछ तो हो चुका, अब न जाने और क्या क्या होने को है ? चार जने से ज़्यादा मुर्दा फूँकने तक को नहीं जा सकते, बिना 'परमिट' कफ़न भी नहीं मिल सकता। एजेंसी का नपा-तुला अनाज लेकर किसी प्रकार पेट पाटलो। और तो और भैया ! अपने मकानों तक पर भी ज़ोर नहीं। कैसी मुसीबत है .... लो बताओ घर का कूड़ा भी घर में ही रक्खो ....। पर कहे कौन ? यह तो चुंगी का काम है कि टब रखवादे।"

मेहतरानी ने सिसकते-सिसकते कहा— "बीबीजी ! सिपाही ने मेरे दो तीन डंडे मारे और लात मारी, कमर फटी जा रही है ; ऊपर से इस जलैया ने हड्डी-पसली तोड़ डाली।"

मैंने उसकी ओर देखा— "वह होठों को दबा-दबाकर अपने मन पर ही सब व्यथा सह रही थी। दम छोड़-छोड़कर आँखों के आँसू आँखों

ही में पी रही थी। हाथों की सभी चूड़ियाँ टूटकर ज़मीन में पड़ी थीं। कुछ कलाइयों में घुसकर रक्त बहा रही थीं। लड़की एक ओर बैठी रो रही थी। सामने ही एक छोटे कुल्हड़ में दूध रक्खा था। शायद अभी दुकान से लाई होगी। पिला न पाई थी। मैंने उसे कुछ आश्वासन देते हुए कहा— "घबरा मत, मैं मालूम कराऊंगी, अगर यह 'भारत-रक्षा-विधान' के अन्तर्गत न हुआ तो शायद कुछ सुनवाई हो सके, नहीं तो कुछ नहीं हो सकता।"

नाजर ने फिर वही कागज़ का टुकड़ा दिखाते हुए कहा— "इसका क्या करूँ हुज़ूर?" किशोर ने उसे एक चिट्ठी थमाते हुए कहा— 'यह दोनों चीज़ें 'चेयरमैन' साहब के यहाँ ले जाओ; और यह लो दो रुपये, जुर्माना देना पड़े तो दे आना।"

शिलान्यास

उस दिन सड़कों की सफ़ाई और छिड़काव देखकर तो इन्द्रपुरी का पथ कल्पना में घूमने लगा। चुंगी के दर्जनों मेहतर ज़मीन में आँखें गड़ाए, सड़क से एक-एक तिनका बीनने की कोशिश में इतने तल्लीन थे कि मानो उन्हें अपने अस्तित्व का भी ज्ञान न था, जैसे समस्त मन और प्राण की शक्ति वे धूल के एक-एक कण में खो बैठे थे।

छिड़कावबाली गाड़ियों की लार की लार तमाम सड़क पर नहर-सी बहा रही थीं। इनके अलावा सैकड़ों भिश्ती मशक पर मशक उँड़ेल रहे थे, कुओं का पानी टूट गया था और चुंगी का बड़ा पाइप खोल दिया गया था, जैसे आज गर्द गुबार और धूल मिट्टी का नामोनिशान ही मिटाकर चैन की स्वांस लेंगे ये चुंगीवाले।

पेड़ों की सूखी पत्तियाँ एक-एक करके बीनी जा रही थीं। राहगीरों को इधर-उधर ही रोक दिया गया था। चरी की गाड़ियाँ, और बोरों में भरे हुए आलुओं के ठेले, एक दम 'ब्रेक' लगाकर खड़े कर दिये गये थे। सिर पर घास के गट्ठर लादे घासवाले स्त्री पुरुष कोठियों की दीवारों के पीछे छिपा दिये गये थे या पेड़ों की आड़ में खड़े कर दिये गए थे। गोबर की टोकरियाँ और लकड़ियाँ सिर पर धरे लड़कियाँ, स्त्रियाँ और छोटे छोटे नंग-धड़ंग लड़के थरथरा रहे थे, न घर जा सकते थे, न लौट ही सकते थे। लौट कर जाएँ भी कहाँ, घर तो उधर ही सड़क के उस पार पुरवे में है। चौराहे का सिपाही आज-जितना सतर्क पहले कभी नहीं देखा गया था। प्रायः उसकी मौजूदगी में कभी साइकिल सवार और ठेले में टक्कर होती थी, तो कभी किसी लारी या कार के साथ तांगा ही टकराते टकराते बचता, लेकिन सिपाही या तो मौज के साथ चाट खाते देखा जाता था या किसी से बातें करता, मानो उसके लेखे ये जीवन-मरण की समस्याएँ नहीं, बल्कि मनोरंजन की बातें थीं, उसे इन सब झगड़ों से क्या लेना देना था ?

सामने ही कोई सरकारी दफ़्तर बनने वाला था— जहाँ महीनों से चिनाई का सामान इकट्ठा किया जा रहा था, जो कि फैलते-फैलते बिलकुल सड़क के किनारे तक आ पहुँचा था। आज वह भी न जाने कैसे तरतीब से लगा दिया गया था। टूटे हुए बोरिए और फटे हुए बाँस तथा बल्लियाँ भी कहीं छिपा दी गई थीं और वहाँ खूब साफ़ सुथरा

मैदान दीखने लगा था और सुन्दर सुन्दर फूल पत्तियां के गमले सजा दिये गए थे। बिल्कुल बीच में एक शानदार डेरा और दरबारी शामियाना लगा दिया गया था जिसके बाँसों में रंग-बिरंगे पर्दे लटका दिये गए थे और बढ़िया से बढ़िया सोफ़े और कुर्सियाँ बिछा दी गई थीं, मानो किसी लड़कीवाले के यहाँ शादी है और वर-स्वागत में यह सब तूल तमूल बाँधा जा रहा है। डी० एस० पी० से लेकर डिप्टी कलक्टर तक देख भाल और स्वागत में व्यस्त थे, फिर छोटे मोटे अहलकारों की तो बात ही क्या ?

अकस्मात् इतने बड़े आयोजन को देखकर सब आश्चर्यचकित थे। हमारी महरी भी रास्ता बन्द होने से लौट कर चौखट पर आ बैठी, और मेहतरानी भी सिर से कूड़े और मैले का टोकरा उतार पेड़ की जड़ में जा छिपी। दोनों बड़ी खिन्न थीं— साँझ हो गई ; आज चूल्हे में आग भी न जाने किस वक्त जलेगी ; बाल-बच्चे भूखे ही छटपटा रहे होंगे... ।" पर लाचारी का क्या इलाज ?

... ...

रामजस ने थैला खाट पर फेंक कर, मेरे हाथ में पैसे थमाते हुए कहा— "साग सब्ज़ी कहाँ से लाऊँ ? कोई जाने ही नहीं देता, जगह जगह सिपाही खड़े हैं, कहते हैं चालान कर देंगे .... ।"

मैं सोचने लगी— "अब क्या हो ? आखिर पेट तो पालना ही होगा— घर में साग भाजी का पता नहीं। आलू तो बारह आने सेर से

कम नहीं मिलते, वही इकट्ठे मँगा कर रखे जा सकते हैं— सो जब से लड़ाई जीती सरकार ने तब से रोज़ इसी इन्तज़ार में इकट्ठे नहीं मँगाते कि आज सस्ते हों— कल हों। हरी सब्ज़ी है ही नहीं। आज यह सब क्या हो रहा है ? कुछ भी समझ में नहीं आ रहा कि आखिर मामला क्या है जो सब रास्ते बन्द कर दिये गए और जगह जगह पहरेदार खड़े हैं।"

चमन ने कमरे से बाहर निकलते हुए कहा— "अम्मा ! आज गवर्नर साहब आने को हैं। वह सरकारी दफ्तर बन रहा है न, उसका शिलान्यास करेंगे।"

महरी चौकन्नी-सी होकर खड़ी हो गई "किसका सत्यानास करेंगे, भैया जी ?"

और चमन ठहाका मार कर हँस पड़ा— "पगली ! सत्यानास नहीं शिलान्यास ? देखती नहीं. ऊपर जाकर देख तब पता लगेगा।" और तब वह छत पर चढ़ गया। हम सब भी पीछे पीछे चले। सामने से बहुत सी गाय-भैंसें भारत-रक्षा क़ानूनों के समान सिर पर चढ़ी आ रही थीं। ग्वाला भरसक यत्न कर रहा था पर वे रुकती ही न थीं और उनके पीछे पीछे कई एक लड़के लड़कियाँ गोबर के चोथ उठाते सिर पर टोकरियाँ धरे दौड़ लगा रहे थे। सिपाहियों ने एक दम हमला करके गाय भैंसों को पीछे की ओर खदेड़ दिया। बेचारा ग्वाला उनके पीछे

ही दम तोड़ता हुआ भागा, छोटे लड़के लड़कियों की टोली नाले की पुलिया के नीचे डर के मारे जा घुसी। पर उनमें जो सबसे बड़ी लड़की थी, वह कुछ साहस किये आगे बढ़ने की कोशिश कर रही थी और बराबर रोती जा रही थी— "बड़ी देर हो गई, अम्मा तो आज मार ही डालेंगी।" आयु होगी लगभग १२ वर्ष, रंग गेहुँआ और आकृति आकर्षक। तन पर एक धरती के रंग की मैली और फटी हुई ओढ़नी लपेटे वह सिकुड़ी-सी जा रही थी। टांगों में तार-तार हुआ गाढ़े का लाल घाघरा और एक चीथड़ा हुई कुरती, बस यही उसकी वेषभूषा थी। सिर के बाल उलझ कर मुँह पर बिखरे पड़े थे। एक सिपाही ने दूसरे की ओर देखा और हँस दिया, लड़की और भी ज़मीन में गड़-सी गई। तीसरे ने उसे हाथ से ढकेल कर एक ओर कर दिया, कहाँ से आ गई यह पलीत कम्बख्त, हट-हट गवर्नर साहब की सवारी आने वाली है, नहीं तो अभी चालान कर दी जायगी......। वह भी पुलिया के नीचे जा घुसी। महरी मुँडेर पर बैठी यह सब देखकर सहम-सी गई। एक बार उसने भी अपने मैले और फटे हुए कपड़ों की ओर देखा और खम्भे की आड़ में छिप गई ; शायद चालान के डर से।

'....नया अंक ?'

[१]

"......का नया अङ्क आ गया क्या ?" मेरे एक साहित्यिक साथी ने कुर्सी पर बैठते हुए कहा।

"हाँ, आ गया।"

"देखूँ ज़रा, सुना है कि इस पत्रिका का अब वह स्टैण्डर्ड तो रहा नहीं"— वह बोले।

"खासी है......। ठहरिये ; अभी दिखलाती हूँ, ज़रा यह कविता पढ़ डालूँ। मालूम होता है कोई नई कवयित्री हैं, फिर भी थोड़े ही दिनों में काफ़ी उन्नति की है— प्रत्येक पंक्ति से ओज और लालित्य फूटा पड़ता है। अब से दो मास पहले भी किसी पत्र में इनकी रचना देखी थी।"

"तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? सम्भव है किसी पुरुष की कविता इससे अच्छी होने पर भी प्रकाशित न हो पाती। यह युग तो नारी-जागृति का युग है न ?...... इसमें कभी-कभी चित्र अच्छे आ जाते हैं" उन्होंने आज का दैनिक उठाते हुए कहा। ऐसे गम्भीर विद्वान् की उपर्युक्त धारणा से मुझे खेद हुआ। बोली— "आपकी रचनाएँ कितनी बार लौट आई हैं ?"

"बहुत बार।"

"बस रहने दीजिये, मैं तो देखती हूँ कि प्रति मास किसी न किसी पत्र-पत्रिका में आपकी रचना अवश्य रहती है।"

"तो वह होती होगी 'नारी-टाइप' "— कह कर वह ज़ोर से हँस पड़े। मेरा रोम-रोम जलने सा लगा— "यह इस समय यहाँ आये ही क्यों जाने...... ?"

स्त्रियों के प्रति इनके यह भाव हैं— मन में ऐसा विचार कर और तर्क-बुद्धि को दबा कर मैं फिर कविता पढ़ने लगी। पढ़ते-पढ़ते मुझे कुछ निराशा सी होने लगी— "यह कैसी कविता ? रचयित्री ने जिस प्रकार आरम्भ किया, वैसे ही अन्त तक नहीं ले जा सकीं, कहीं-कहीं असाधारण रूप से क्रम टूट गया है।" सोचने लगी— "यह इस कविता को न देखें तो अच्छा...... ।"

कविता के दाहिनी ओर कवयित्री का चित्र था, सूरत-शक्ल जानी-पहचानी सी लगी— "ऐसी ही आकृति मैंने कहीं देखी अवश्य है..., पर कहाँ ? यह नहीं याद आया।" और फिर इधर-उधर के पृष्ठ उलटने शुरू कर दिये। वह भी शायद असभ्यता समझ कर मुझसे दुबारा अङ्क न माँग सके। जैसे ऊब कर बोले— "अच्छा क्षमा कीजिये, आपका बड़ा समय नष्ट किया— अब चलता हूँ।"

मेरे हृदय पर सहसा ही आघात सा हुआ— सम्भवतः अपने ही व्यवहार से। अङ्क मेज़ पर डालते हुए कहा— "नहीं, नहीं, बैठिये ! मैं इसे ही देख रही थी, कविता मेरी सम्मति में तो सुन्दर है, किन्तु किसी की सभी कृतियाँ तो श्रेष्ठ होना कठिन ही है !" वह बोले— "हाँ, यह तो ठीक ही है।" फिर ...... का अङ्क उठाकर देखने लगे। पढ़ते-पढ़ते उनके चेहरे के भाव बदल रहे थे, और मुझे उस समय जैसा कुछ लग रहा था— वह केवल अनुभव तक ही सीमित रह सकता है। लेकिन इसके पश्चात् उन्होंने मुझसे केवल इतना ही कहा, 'आपने मेरी वह कविता...... तो देखी होगी न ? अब से कोई वर्ष भर पहिले कलकत्ते के एक मासिक में निकली थी। उसकी कुछ पंक्तियाँ याद हैं ?"

मैंने कहा— "हाँ, कहीं कहीं से।"

"अच्छा तो इसे हाथ में लेकर सुनिये, सुनाये देता हूँ।"

पत्रिका का अङ्क उन्होंने मुझे थमा दिया और वह कविता पाठ करने लगे। मैं गुरु के समान बैठी मिलान कर रही थी। कविता समाप्त

होते न होते पत्रिका हाथ से छूट पड़ी। "कितना साम्य ? कहीं कहीं पूरे के पूरे पद ज्यों के त्यों ?" शर्म के मारे मैं गड़ी सी जा रही थी। वह उठ खड़े हुए, चलते-चलते बोले— "मैं तो आपको केवल बधाई देने के अभिप्राय से आया था।"

"सो कैसी......?" मैंने कौतूहल से पूछा।

"इस बार 'विशाल भारत' में आपकी कविता आई है न — 'कवि से......'? बस, केवल सुन्दर है।" वह चले गये। मैं कुछ हर्ष और विषाद में बैठी की बैठी रह गई।

[२]

पंडाल खचाखच भरा हुआ था। कवि-सम्मेलन आरम्भ होने का समय तेज़ी के साथ बीता जा रहा था। सभापति महोदय की प्रतीक्षा में लोगों की आँखें बार-बार दरवाज़े पर जा अटकती थीं। बाहर से आये हुए कविगण, कुछ अधिक उतावले से, कभी उठते और कभी बैठ जाते थे। संयोजक की परेशानी का तो कहना ही क्या ? मेरा मन भी ऊब उठा। तभी किसी ने पीछे से कहा— "बहिन जी ! नमस्ते...।"

"यह क्या ? तुम कब आईं रामा ! आओ बैठो।" कह कर मैंने एक खाली कुर्सी निकट ही खींच ली, वह बैठ गई। रामेश्वरी हमारे पण्डित जी की कन्या थी— बड़ी सीधी और सुशील। जिनके साथ उसका विवाह हुआ था, वह भी एक साहित्यिक होने के नाते मेरे परिचित ही थे। लेखक, कवि और कहानीकार से लेकर आलोचक

तक थे वह। मतलब कि सभी श्रोर उनकी गति-विधि थी श्रौर कभी-कभी उनकी कोई रचना पत्र-पत्रिकाश्रों में देखने को मिल भी जाती थी। मैंने पूछा— "कवि-सम्मेलन का निमंत्रण गया होगा, तभी मुकुटधर श्राये होंगे ? चलो, श्राज प्रथम बार उनके मुँह से उनकी कविता सुनने का सौभाग्य हमें भी प्राप्त हो जायगा।" वह भी शायद पास ही खड़े थे, बोले— "नमस्ते ! जी... श्रौर 'इनकी' कविता सुनने का भी तो पहिला ही श्रवसर होगा श्रापको। .... श्राप तो स्वयं बड़ी .... !"

"इनकी ? किनकी कविता ?" मैंने चकित होकर उन दोनों की श्रोर देखा।

वह चुप थे, श्रौर रामा जैसे गड़ी जा रही थी। मैंने फिर पूछा— "किसकी कविता से मतलब है श्रापका ?"

"इन्हीं की।" उन्होंने रामा की श्रोर संकेत करते हुए कहा।

मैं प्रसन्नतापूर्वक उसकी श्रोर देखती हुई बोली— "क्यों नहीं ... ? श्राखिर कवि की पत्नी है या किसी बुद्धू की ...... ?"

पर रामा जैसे कहीं दूर दिशा में थी।

पल भर में सभापति जी का श्रागमन एक साथ बजनेवाली सहस्रों तालियों के द्वारा चौकन्ना कर गया। कविता पाठ श्रारम्भ हुश्रा— एक के बाद एक कितने ही कवि मंच पर श्राये श्रौर चले गये।

रामा के पति मुकुटधर वाजपेयी के पश्चात् श्रीमती रामा वाजपेयी

का नाम पुकारा गया। मैं थोड़ी और सावधान होकर बैठ गई— "क्या यह कवि भी हो गई? जिसे अपना नाम भी सही लिखना न आता था। इसे कहते हैं उन्नति।"

अपनी कविता जैसे तैसे समाप्त कर वह फिर मेरे पास आ बैठी। स्वांस की गति, जैसे घुट कर रुक जायेगी, ऐसी थकी हुई सी। मुकुटधर ने मेरे निकट आकर कहा— "इनकी कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित करा रहा हूँ— कभी अवकाश मिलने पर उसके लिये दो शब्द लिखने की कृपा अवश्य करें।" मैंने जैसे यह सब सुन कर भी नहीं सुना, रामा से पूछा— "यह कविता तुमने कब लिखी?" और उसकी टोड़ी छूकर, मुँह कुछ ऊपर करके मैंने उसकी आँखों में आँखें डाल दीं। देखा— रामा में तिल भर भी फ़र्क़ नहीं है— वह अब भी उतनी ही सरल है। वह बोली— "बीबी! यह सब इन्हीं की करतूत है। अपनी कविता कभी मेरे नाम से छपा देते हैं, कभी अपने नाम से।" मैंने बहुत शान्त भाव से कहा— "केवल अपनी ही या दूसरों की भी? यह जो कविता तुमने पढ़ी, पता है कुछ— किसकी है? वह देखो...! 'उनकी'। कवि की पत्नी भी कवि ही हो, यह भी कोई साध है?"

रामा की भृकुटी तन गईं, उसने घूर कर पति की ओर देखा और उसके साथ ही मैंने भी उधर ही— "क्या वह अब भी सम्मति के लिये उत्तर की आशा में हैं?"

पर उनके ऊपर जैसे किसी ने सौ घड़े पानी डाल दिया हो।
